कथा कादम्बिनी

सम्पादक—
डा० देवराज एम. ए.
पी-एच. डी.

कपूर प्रिंटिंग प्रेस,
कश्मीरी गेट, देहली

प्रथम संस्करण] [मूल्य 2-25

विषय-सूची

भूमिका

इस संग्रह में हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानियों को स्थान दिया गया है। यद्यपि कहानियों का विकास हमारे देश में शताब्दियों से होता चला आ रहा है तथापि नई पद्धति की कहानियों का इतिहास लगभग डेढ़सौ वर्ष से अधिक पुराना नहीं है। मानव प्राणी की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह कहानियों के माध्यम से उपदेश के कटु से कटु सिद्धांतों को भी सुनने को तैयार हो जाता है। भारतीय साहित्य में ऋग्वेद ब्राह्मण, उपनिषदों और महाभारत में अनेक उपाख्यान मिलते हैं। यम-नचिकेता, सरमा, वामदेव, जाबाली के आख्यान अत्यन्त प्राचीन माने जाते हैं। पुराण तो आख्यानों के भंडार हैं। इसी प्रकार बौद्धों की जातक कथाएं और जैनियों के नन्दी सूत्र कहानियों के लिए प्रसिद्ध हैं।

संस्कृत साहित्य में विद्यार्थियों के हित की दृष्टि से प्रचुर कथा-साहित्य चरित हुआ है। पंचतंत्र और हितोपदेश ऐसे ग्रंथ हैं जिनकी कहानियाँ आज भी बड़ी रुचि के साथ पढ़ी जाती हैं। ईसा की पहली शताब्दी में वृहद्कथा नाम का ग्रंथ पैशाची भाषा में लिखा गया जिसका कालान्तर में अनेक भाषाओं में अनुवाद हो गया। हमारे देश में आश्चर्यजनक घटनाओं को प्रदर्शित करने वाली कहानियों के साथ-साथ साहसी वीरों और यात्रियों के उत्साहवर्धक कार्यों की रोचक कहानियां भी चिरकाल से प्रचलित रही हैं। राजकुमारों को निर्भीक बनाने के लिए दशकुमारचरित नामक ग्रंथ की रचना हुई।

यद्यपि हिन्दी में बैतालपचीसी और सिंहासनबत्तीसी आदि संस्कृत की कहानियां अनूदित हुईं तथापि हिंदी में कहानी का विकास रानी केतकी की कहानी से माना जाता है। सदलमिश्र ने एक पौराणिक कहानी नासिकेतोपाख्यान भी लिखी है। किन्तु वह एक प्रकार से

पुरानी परम्परा में ही आती है। इस कहानी का रचनाकाल १८०३ ई० है। भारतेन्दु युग में हमारे देश में कथा साहित्य का जोरों से विकास होने लगा। उस समय बाबू काशीनाथ खत्री ने अन्य भाषाओं की कहानियों का हिन्दी भाषा में अनुवाद किया जिसमें लेम्बस टेल्स प्रसिद्ध थी। १९०० ई० में सरस्वती का प्रकाशन हुआ। किशोरी लाल गोस्वामी ने १९०० में इन्दुमती नामक कहानी लिखी। पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने संस्कृत की कहानियों का हिन्दी में अनुवाद किया। बंगला साहित्य में उच्च कोटि की कहानियाँ लिखी जा रही थीं। बंग महिला नामक पत्रिका में उच्चकोटि की कहानियाँ छपने लगीं। हिन्दी पर भी इनका प्रभाव अवश्यमभावी था। सन् १९११ में प्रसाद ने 'इन्दु' नामक पत्रिका निकाली जिसमें 'ग्राम' नामक कहानी की ओर अनेक व्यक्तियों का ध्यान गया। प्रसाद जी ने आकाशदीप, बिसाती, प्रतिध्वनि, देवदासी, चूड़ीवाली, स्वर्ग के खण्डहर, गूदड़साई, नूरी, सलीम, चित्र वाले पत्थर और सालवती नामक कहानियाँ लिखकर कहानी साहित्य को गति प्रदान की। पण्डित ज्वालादत्त शर्मा की पहली कहानी सन् १९१४ में प्रकाशित हुई और पण्डित विश्वम्भरनाथ कौशिक की पहली कहानी रक्षा-बन्धन सन् १९१३ में प्रकाशित हुई।

चतुरसेन शास्त्री की पहली कहानी सन् १९१४ में गृह-लक्ष्मी पत्रिका में प्रकाशित हुई। तब से लेकर जीवनपर्यन्त उन्होंने अनेक कहानियाँ हिन्दी साहित्य को प्रदान कीं। पण्डित बद्रीनारायण भट्ट हास्य रस की कहानियाँ लिखने में प्रसिद्ध थे। बाबू शिवपूजन सहाय की कहानियाँ सन् १९१४ में प्रकाशित होने लगीं। सन् १९१५ में चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की 'उसने कहा था' कहानी प्रकाशित हुई। कुछ लोगों का मत है कि हिन्दी में यथार्थवादी कहानियाँ यहीं से आरम्भ हुईं। क्योंकि इसमें कहानी के सभी अंग दिखाई पड़ते हैं।

गुलेरी जी के उपरान्त हिन्दी कहानियों में प्रेमचन्द जी का युग आता है। प्रेमचन्द जी की कहानी सन् १९१६ में प्रकाशित हुई। २०

वर्षों के परिपक्व साहित्य जीवन में प्रेमचन्द जी ने अनेक उत्तमोत्तम कहानियाँ हिन्दी जगत को प्रदान कीं। प्रेमचन्द जी ने हिन्दी जगत को एक नया मार्ग दिखाया जिसका अनुसरण करते हुए अनेक कहानीकार विभिन्न शैलियों पर कहानियाँ लिखते चले आ रहे हैं।

यदि कहानियों का वर्गीकरण किया जाए तो आज की कहानियाँ निम्नलिखित चार भागों में विभाजित की जा सकती हैं—

(१) चरित्र चित्रण की दृष्टि से लिखी गई कहानियाँ।
(२) समस्याविशेष के समाधान के लिए लिखी गई कहानियाँ।
(३) केवल घटना को प्रधानता देने वाली कहानियाँ।
(४) किसी सिद्धान्त की स्थापना करने वाली कहानियाँ।

इस संग्रह में चारों प्रकार की कहानियाँ संकलित की गई हैं। घटना-प्रधान कहानियों के साथ साथ समस्या को भी स्थान देने के लिए कई कहानी-लेखक प्रयास करते रहे हैं। इस प्रकार कभी-कभी एक ही कहानी में उपर्युक्त चारों विशेषताओं में एक को सबसे अधिक महत्व दिया जाता है और शेष को क्रमशः गौण।

कहानी के तत्व—

सफल कहानी में निम्नलिखित छः तत्व प्रायः पाये जाते हैं—

१. कथावस्तु, २. पात्र, ३. वातावरण, ४. कथोपकथन, ५. भाषा-शैली, ६. उद्देश्य।

कथावस्तु—कथावस्तु की सरसता पर कहानी की सफलता निर्भर रहा करती है। जिस कथावस्तु में स्वाभाविक रीति से पाठक के मन में जितनी अधिक उत्कण्ठा उत्पन्न करने की शक्ति होगी वह कहानी उतनी ही चित्ताकर्षक बनेगी। कथावस्तु की गठन जितनी सुव्यवस्थित होगी उतनी ही वह पाठकों को रुचिकर प्रतीत होगी। कहानीकार की कला की परीक्षा कथावस्तु के निर्माण में सबसे अधिक देखी जाती है। यद्यपि आजकल कहीं-कहीं कथावस्तु की अपेक्षा अन्य तत्वों पर अधिक बल दिया जा रहा है किन्तु पाठक की पूर्ण सन्तुष्टि सुन्दर

कथावस्तु के द्वारा ही होती है। कथावस्तु के लिए कहानीकार सामान्य से सामान्य घटना को लेकर अपनी कल्पना का रस मिलाकर घटना क्रम को आकर्षित बना लेता है। लेखक की कल्पना-शक्ति वस्तु संयोजन में अत्यधिक सहायक होती है।

२. पात्र—प्राचीन कहानियों में कभी-कभी अनेक पात्रों के आ जाने से पाठक को नाम स्मरण करने में असुविधा होती थी। इस दोष के परिहार के लिए केवल चार पाँच पात्रों के आधार पर कहानियाँ बनने लगीं। अब तो कभी-कभी केवल दो एक पात्र लेकर भी कहानियाँ लिखी जा रही हैं। पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व को स्पष्ट करने के लिए उनकी संख्या का अल्प होना आवश्यक है। आजकल पात्रों का चरित्र-चित्रण मनोविज्ञान के आधार पर किया जा रहा है। फ्रायड जूंग आदि मनोवैज्ञानिकों ने चरित्र-चित्रण की कला में आमूल परिवर्तन कर दिया है। पात्रों के चरित्र के उत्थान और पतन में जितनी अधिक स्वाभाविकता पाई जायेगी कहानी उतनी ही रोचक बनेगी। किस वातावरण में कौन पात्र अपनी किस स्वाभाविक प्रवृत्ति की सहायता से क्या कार्य करता है इन्हीं का चित्रण और पात्रों की मनोवृत्तियों और संवेदनाओं का दिग्दर्शन चरित्र-चित्रण की कला का प्रदर्शन करती हैं।

३. कथोपकथन—यद्यपि नाटकों में कथोपकथन का मुख्य स्थान माना जाता है तथापि कहानियों में भी इन्हें यत्र-तत्र अवश्य ही स्थान मिलता रहता है। कथोपकथन द्वारा कहानी में सजीवता आ जाती है और वर्णनात्मक शैली के बदल जाने से पाठक एक प्रकार की शांति अनुभव करता है। कथोपकथन जितने छोटे एवं स्वाभाविक होते हैं उतने ही वे कहानी को सफल बनाने में सहायक होते हैं।

४. वातावरण—जिस युग का वर्णन हो उसके अनुकूल वातावरण का सृजन कहानी की सफलता का लक्षण है। वातावरण के बन जाने से पात्रों के चरित्रों को समझने में सुगमता हो जाती है।

५. भाषा-शैली—कहानी की भाषा महाकाव्य की भाषा से भिन्न है। जिस कहानी की भाषा जितनी सरल, सुगम और मुहावरेदार होगी वह कहानी उतनी ही सफल होगी। जिन कहानियों की भाषा विचारों के बोझ से इतनी बोझिल हो जाती है कि वह पाठकों को क्लिष्ट प्रतीत होने लगती है, वे कहानियाँ अरुचिकर बन जाती हैं। अतः भाषा और शैली को लोकप्रिय बनाने के लिए मुहावरों का प्रयोग बहुत आवश्यक माना जाता है।

६. उद्देश्य—प्राचीन काल में पंच-तंत्र और हितोपदेश की कहानियाँ पाठकों के मन में धर्म, नीति के मूल सिद्धांतों को बिठा देने के उद्देश्य से लिखी जाती थीं; किन्तु अब विचारों की सूक्ष्मता के द्वारा बुद्धि को प्रोद्भासित करना सबसे बड़ा उद्देश्य माना जाता है। कहानी का रोचक होना तो आवश्यक है ही साथही विचारों का उद्बोधन भी अब मुख्य उद्देश्य माना जाने लगा है। अतः मनोरंजन के साथसाथ विचार-बर्द्धन भी कहानी का उद्देश्य होना चाहिए।

इस संग्रह में उक्त दोनों उद्देश्यों और कहानी के छहों तत्त्वों का ध्यान रखकर कहानियाँ संग्रहीत की गई हैं। मन को स्वस्थ, विचारों को उत्तेजित और चित्त को आकर्षित करने वाली सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ इस संकलन में सम्मिलित की गई हैं जिनका विश्लेषण पुस्तक के अन्त में किया गया है।

सम्पादक

अनाथ बालिका

पं० ज्वालादत्त शर्मा

[जीवन परिचय—शर्मा जी का जन्म उत्तर प्रदेश के मुरादाबाद जिले में सन् १८८८ ई० में एक सामान्य परिवार में हुआ था। वह भारतेन्दु का युग था। उस युग में कोई भी साहित्यकार तब तक सफल लेखक नहीं बन सकता था जब तक वह कई भाषाओं के साहित्य का अध्ययन न कर ले। फलतः पं० ज्वालादत्त शर्मा ने संस्कृत साहित्य के साथ-साथ बंगला, उर्दू और फारसी का भी विधिवत् अध्ययन किया। भारतीय संस्कृति और विशेषतः हिन्दू संस्कृति से पूर्णतः परिचित होने के कारण इनकी कहानियों में सांस्कृतिक विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं। उस काल में पारिवारिक जीवन का चित्रण कहानी का एक मुख्य अंग माना जाता था। आपकी कहानियों में पारिवारिक जीवन के दोषों और गुणों का सम्यक् विवेचन मिलता है। 'विवाह' नामक कहानी में इन्होंने गार्हस्थ्य जीवन की गहन समस्या हमारे सामने रख दी है।

अनाथ बालिका इनकी सबसे प्रसिद्ध कहानी है।]

पण्डित राजनाथ एम० डी० का व्यवसाय साधारण नहीं है। शहर के छोटे-बड़े अमीर-गरीब सभी उनको अपनी बीमारी में बुलाते हैं। इसके कई कारण हैं। एक तो आप साधु पुरुष हैं, दूसरे बड़े स्पष्ट-वक्ता, तीसरे सदाचार की मूर्ति हैं। चालीस साल की अवस्था हो जाने पर भी आपने अपना विवाह नहीं किया। ईश्वर की कृपा से आपके पास रुपये और मान की कमी नहीं। अतुल धन और अमित सम्मान के अधिकारी होने पर भी आप बड़े जितेन्द्रिय, निरभिमानी

और सदाचारी हैं। गोरखपुर में आपको डाक्टरी शुरू किए सिर्फ सात ही वर्ष हुए हैं, पर शहर के छोटे-बड़े सब की जबान पर राजा-बाबू का नाम इस तरह चढ़ गया है, मानो वे जन्म से ही वहाँ के निवासी हैं। आपका कद ऊँचा, शरीर छरहरा और चेहरा कान्ति-पूर्ण गोरा है। मरीज से बातचीत करते ही उसकी तकलीफ आप कम कर देते हैं। इस कारण साधारण लोग आपको जादूगर तक समझते हैं। आपके परिवार में सिर्फ वृद्धा माता है। एक भानजे का भरण-पोषण भी आप ही करते हैं। भानजा सतीश कालेज में पढ़ता है।

डाक्टर राजा-बाबू ने अनेक मरीजों से फारिग होकर आज का दैनिक उठाया ही था कि उनके सामने एक ११-१२ वर्ष की निरीह बालिका, आँखों में आँसू भरे हुए आ खड़ी हुई। डाक्टर साहब समझ गये कि इस बालिका पर कोई भारी विपत्ति आई है। उन्होने दैनिक को मेज पर रखकर बड़े स्नेह के साथ उससे पूछा—

"बेटी, क्यों रोती हो?"

"डाक्टर साहब कहाँ हैं, मैं उनके पास आई हूँ। मेरी माँ का बुरा हाल है।"

"मैं ही डाक्टर हूँ। तुम्हारी माँ को क्या शिकायत है?"

"डाक्टर साहब, मेरी माँ को बड़े जोर का बुखार चढ़ा है। तीन दिन से वह बेहोश थीं। आज कुछ होश हुआ है, तो आपको बुलाने के लिए भेजा है। हमारा घर बहुत दूर नहीं है। आप चलकर देख लीजिए।"

"मैं अभी चलता हूँ। तुम घबराओ मत। ईश्वर तुम्हारी माँ को नीरोग कर देगा।"

डाक्टर साहब अपना हैंड-बैग उठाकर लड़की के साथ पैदल ही चल दिए। लड़की के मना करने पर भी उन्होंने नहीं माना और कहा—"तुम्हारा मकान बहुत करीब है। मैं प्रातःकाल से गाड़ी में

बैठे-बैठे थकसा गया हूँ, इसलिए थोड़ी दूर पैदल चलने को तबियत चाहती है।"

डाक्टर साहब पेचदार गलियों से निकलते हुए एक बहुत छोटे मकान में दाखिल हुए। मकान की अवस्था देखते ही डाक्टर साहब ने समझ लिया कि इसमें रहने वालों पर चिरकाल से लक्ष्मी जी का कोप मालूम होता है। उन्होंने मकान के भीतर जाकर देखा कि एक छप्पर के नीचे चारपाई पर लड़की की माँ लिहाफ ओढ़े लेटी हुई है। आँगन मे नीम का एक पेड़ है। उसके पत्तों से आँगन भर रहा है। मालूम होता है कि कई दिनों से घर में झाड़ू तक नहीं लगायी गई। लड़की ने अपनी माँ की चारपाई के पास पहले से ही एक मूढ़ा बिछा रखा था; क्योंकि उसने अपनी माँ से सुना था कि कोई गरीब आदमी डाक्टर साहब के घर से निराश नहीं लौटाया जाता। डाक्टर साहब मूढ़े पर बैठ गए। लड़की ने माँ के कान मे जोर से आवाज दी कि डाक्टर साहब आ गये। माँ ने मुंह पर से लिहाफ उठाया। यद्यपि बीमारी की तकलीफ के कारण उसके चेहरे पर उदासी छायी थी, तथापि उस उदासी के अन्दर भी डाक्टर साहब ने उसके हृदय की पवित्रता और मानसिक दृढ़ता की निर्मल किरणों को छनते हुए देखा। उन्होंने यह भी जान लिया कि भगवान् के अदृष्ट कोप से यद्यपि यह रोगिणी इस छोटे से मकान में टूटे-फूटे सामान के साथ रहने को विवश कर दी गई है, किन्तु एक दिन यह जरूर अच्छे घर और बड़े सम्मान के साथ किसी सुयोग्य पति के हृदय की अधिकारिणी रही होगी। रोगिणी की अवस्था ४० वर्ष से ऊपर थी। रोग और गरीबी ने मिलकर उसके मुख-कमल को मलीन करने में कोई कसर न छोड़ी थी, परन्तु उसके चेहरे पर जिस स्वर्गीय शान्ति का आधिपत्य था, उसे विपत्ति न हटा सकी। रोगिणी के शान्तिपूर्ण चेहरे को देखते ही डाक्टर के हृदय में उसके विषय में बड़ी श्रद्धा उत्पन्न हो गई। उन्होंने अपने स्वभाव-सिद्ध मीठे स्वर में पूछा—

"माँ जी, आपको क्या तकलीफ है ? धीरे-धीरे अपनी तबियत का हाल कह सुनाइए।"

"राज-बाबू तुम दीनबन्धु हो, इसलिए ईश्वरवत् पूज्य हो। मैं आपसे लज्जा छोड़कर कुछ कहना चाहती हूँ। आशा है, इसके लिए तुम मुझे क्षमा करोगे। संसार में मैंने किसी का एहसान नहीं उठाया; पर मरते समय तुम्हारे एहसान के नीचे मुझे दबना पड़ा। इसलिए ईश्वर तुम्हारा......" यह कहते-कहते रोगिणी के नेत्रों में आँसू भर आये

राजा-बाबू ने बड़ी नम्रता से कहा—

"माँ जी, आप तबियत को भारी न कीजिए। मैं आपकी सेवा के लिए तैयार हूँ। आप निस्संकोच आज्ञा कीजिये, पर पहले रोग का हाल तो कहिये।"

"डाक्टर साहब, रोग का हाल कुछ नहीं। समय पूरा हो गया है। अब मैं आपसे जो कुछ कहना चाहती हूँ, उसे सुन लीजिए। सरला—जो आपके पीछे खड़ी हुई है—मेरी एकमात्र कन्या है। यह अब अनाथ होती है। इसको मैं आपके सुपुर्द करती हूँ। इसका विवाह मैं न कर सकी; इसलिये मुझे आपसे इतनी बड़ी भिक्षा माँगनी पड़ी। यह घर के काम-काज में होशियार है। जो कुछ मैं जानती थी और बता सकती थी, उसकी शिक्षा मैंने इसको दे दी है। यह आपकी सेवा करेगी। मुझे पूर्ण आशा है कि यह आपको प्रसन्न रखेगी। समय आने पर आप इसका किसी पढ़े-लिखे ब्राह्मण-वर के साथ विवाह कर दें। बस मेरी यही प्रार्थना है। और, हाँ यह एक पैकेट है, जिसमें दो लिफाफे हैं। इनको आप मेरी मृत्यु के एक वर्ष बाद जब चाहें पढ़ें। उसमें मेरा परिचय है—जिसको बताने की और आपको जानने की इस समय जरूरत नहीं। दूसरों का उपकार करने वाले सदा संकट में ही रहते हैं। आप भी परोपकाररत हैं; इसलिए आपको भी बेवास्ते इन संकटों में पड़ना पड़ा।"

इस प्रकार कहते-कहते उसका गला भर आया।

राजा-बाबू ने उत्तर दिया—

"माँ जी, मैं आपकी आज्ञा को सहर्ष स्वीकार करता हूँ। मैं आपकी कन्या को सन्तानवत् रखूँगा। मेरे घर में कोई बालक नहीं। माता जी सरला को पाकर यथार्थ में बहुत प्रसन्न होंगी। समय आने पर मैं इसका विवाह भी कर दूँगा; पर आप इतना निराश क्यों होती हैं। मुझे आशा है, आप अच्छी हो जायेंगी।"

इसके बाद डाक्टर साहब ने रोगिणी की नब्ज आदि देखी। देखने से डाक्टर साहब को मालूम हो गया कि रोगिणी का रोग-विषयक बयान बहुत-कुछ ठीक है।

उसी दिन शाम को रोगिणी इस संसार से चल बसी।

(२)

विस्मृति भी बड़े काम की चीज़ है। यह न होती, तो मनुष्य का जीवन बहुत बुरा हो जाता। जन्म से लेकर आज तक हमको जिन जिन दुःखों, क्लेशों और संकटों का सामना करना पड़ा है, वे सब-के-सब यदि हर समय हमारी आँखों के सामने खड़े रहते, तो हमारा जीवन भयानक हो जाता। अकेली विस्मृति ही उनसे हमारी रक्षा करती है।

सरला ने मातृ-वियोग को सह लिया। माता की याद धीरे-धीरे विस्मृति के गर्भ में छिपने लगी। अब उसकी जीवन-पुस्तक का एक नया, पर चमचमाता हुआ, पृष्ठ खुला। छोटे से झोंपड़े से निकलकर अब उसने महल को मात करने वाले डाक्टर राजा-बाबू के मकान में प्रवेश किया। माता जी की छत्रछाया उठ गई, डाक्टर की वृद्धा माता की गोद का आश्रय मिला, पर उसमें भी उसने वही स्नेह-रस-परिप्लुत अभयदान पाया।

सरला ने पहले तो कुछ संकोच अनुभव किया, पर अन्नपूर्णा की

ममतापूर्ण और डाक्टर साहब की स्नेह-भरी बातों ने उसे बता दिया कि वह मानो अपने ही घर में है। डाक्टर साहब ने सरला की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध कर दिया।

सरला भी डाक्टर साहब की यथा-शक्य सेवा करने लगी। पर नौकरों की तरह नहीं, घर के बच्चे की तरह। वह डाक्टर साहब को अपने हाथ से भोजन कराती। अन्नपूर्णा जी यद्यपि अपने देवोपम पुत्र के लिए स्वयं ही भोजन तैयार करतीं, पर सरला फिर भी उनको कुछ कम सहायता न देती। सरला को धीरे-धीरे पाक-शास्त्र की शिक्षा मिलने लगी। वृद्धा अन्नपूर्णा के निरीक्षण में निरामिषभोजी डाक्टर साहब के लिए विविध प्रकार के शाक, खीर, हलुआ आदि अनेक सुस्वादु और पौष्टिक पदार्थ वह बनाने लगी। प्रातःकाल होते ही, अन्नपूर्णा की पूजा का सामान भी वह ठीक कर देती। घर के बगीचे से फूल लाकर देती और चन्दन आदि सामग्री यथास्थान रख देती। अपनी सेवा और सुस्वभाव से—मतलब यह कि—सरला ने डाक्टर साहब और उनकी वृद्धा माता के हृदय में सन्तान से बढ़कर स्नेह पैदा कर लिया।

बड़े दिन की छुट्टियों में सतीश घर आया। उसने देखा कि घर में एक देवीस्वरूपिणी कन्या रहती है। उसके आलोक से उसने मानो सारा मकान आलोकित पाया। मामा से पूछने पर उसे मालूम हुआ कि वह भी उनकी एक आत्मीया है और कुछ दिनों तक उनके यहाँ रहने के लिए चली आयी है। दो-चार दिन तक सतीश को उसके साथ बात-चीत करने में संकोच-सा मालूम हुआ। उधर सलज्जा सरला भी एक नये आदमी के साथ बातचीत करने में झिझकती रही, पर कुछ दिनों में दोनों की तबियतें खुल गयीं। फिर तो वे आपस में खूब आलाप करने लगे। सतीश ने सरला से कभी उसका परिचय न पूछा, क्योंकि वह मामाजी की बात को वेद-भगवान् की बात समझता था। न सरला ने ही अपना प्रकृति-परिचय देने की आवश्यकता समझी। इसमें सन्देह

नहीं कि सरला की योग्यता, गृहकार्य-कुशलता और उसके पवित्रतापूर्ण आचरण पर सतीश मन से मुग्ध हो गया। सरला भी सतीश के कामों का बड़ा ध्यान रखती। सतीश प्रायः देखता कि उसके कपड़े तह किए हुए यथा-स्थान रखे हैं, वह अपने पढ़ने की पुस्तकें भी—जिन्हें वह इधर-उधर बिखरी हुई और खुली हुई छोड़ गया था—बन्द की हुई और चुनी हुई पाता। छुट्टियों के अत्यल्प काल में ही सरला ने उसके हृदय में स्थान कर लिया। उसे न मालूम क्यों हर समय सरला का ध्यान रहने लगा। वह अपने मन से भी इसका कारण कई दफे पूछकर कुछ भी उत्तर न पा सका था। परन्तु वह जाने या न जाने—और जानने की जरूरत भी नहीं—प्रेमदेव की पवित्र किरणों से उसका हृदयाकाश अवश्य ही आलोकित रहने लगा। वह कभी सरला को पढ़ाता—बीसियों नयी-नयी बातें बताता—और घंटों खाली इधर-उधर की बातें ही करता। मतलब यह है कि इन दोनों की मैत्री दिन-पर-दिन मजबूत होने लगी। छुट्टियाँ समाप्त होने पर जब सतीश कालेज जाने लगा, तब उसे मकान छोड़ने में बड़ा मीठा दर्द-रूप मोह मालूम हुआ, पर वह तत्काल सँभल गया और हमेशा की तरह मामाजी और वृद्धा के चरण छूकर सरला से आँखों-ही-आँखों में उसने बिदा ली।

(३)

सतीश सेण्ट्रल हिन्दू कालेज में पढ़ता है। इस वर्ष वह एम० ए० की अन्तिम परीक्षा देगा। सतीश बड़ा धार्मिक है। वैसे तो हर लड़के को जो हिन्दू-कालेज के बोर्डिंग-हाउस में रहता है, स्नान-ध्यान और धार्मिक-कृत्य सम्पादन करने पड़ते हैं, किन्तु सतीश ने अपनी बाल्यावस्था के कुछ वर्ष अपने मामा डाक्टर राजा-बाबू के साथ काटे हैं। इसलिए, नित्य प्रातःकाल उठना, सन्ध्योपासन करना और परोपकार के लिए दत्तचित्त रहना उसका स्वभाव-सा हो गया है। सतीश छह वर्ष से इसी कालेज में पढ़ रहा है और हर वर्ष परीक्षा में बड़ी नामवरी के साथ पास हो रहा है। सतीश अपने दैवी गुणों के लिए

सब लड़कों में प्रसिद्ध है । हर एक लड़का, किसी-न-किसी रूप म उसकी कृपा का पात्र बना है । अनेक कमजोर (शरीर में नहीं, पढ़ाई में) लड़कों ने उससे पढ़ा है, अनेक गरीब विद्यार्थियों की उसने आर्थिक सहायता की है । किसी लड़के के रोग-ग्रस्त होने पर सहोदरवत् उसने उसकी शुश्रूषा भी की है । इसलिए कालेज का हर एक लड़का उसे बड़ी पूज्य दृष्टि से देखता है । सतीश के पास वाले कमरे में रामसुन्दर नामक एक लड़का रहता है । वह दो वर्ष से इस कालेज में पढ़ता है, पर है सतीश का सहाध्याई ही । यह लड़का घर का मालदार होते हुए भी विद्या का बड़ा प्रेमी है । इसके पिता का हाल में स्वर्गवास हो गया है और यह बहुत बड़ी सम्पत्ति का मालिक हुआ है । पर, फिर भी, इसने पढ़ना नहीं छोड़ा । सतीश के साथ इसकी बड़ी घनिष्टता है । सतीश और रामसुन्दर की प्रकृति अनेक अंशों में एक-सी है । इसलिए इन दोनों में खूब मित्रता है । सतीश और रामसुन्दर छुट्टी के समय प्रायः एक ही साथ रहते हैं ।

सतीश और रामसुन्दर एक नाव पर बैठे हुए हैं । नाव पुण्यतोया-भागीरथी में धीरे-धीरे बह रही है । ग्रीष्म ऋतु की सन्ध्या है । बड़ा लुभावना दृश्य है । तारों का बिम्ब गंगाजल में पड़कर सजीव बहार दिखा रहा है । सच तो यह है कि इस "शाम" के सामने "शामे लखनऊ" कुछ भी चीज नहीं । नाववाला बड़े मीठे स्वर में गीत गा रहा है । उस की आवाज गंगा के तट के अट्टालिका-सम ऊँचे स्थानों से टकरा कर मानो कई गुनी होकर वापिस आ रही है । ये दोनों मित्र आपस में खूब घुल-मिलकर बातें कर रहे हैं । अन्त में सतीश ने कहा—

"मित्र, तुम्हारा हृदय बहुत विशाल है । इस बात को मैं स्वीकार करता हूँ । जहाँ तक मेरी शक्ति है, मैं तुमको इस पुण्य कार्य में सहायता दूँगा । तीन मास बाद कालेज बन्द होगा । उस समय तीन मास से अधिक का अवकाश मिलेगा । उसमें मैं तुम्हारे साथ रहूँगा । जहाँ तुम चलोगे, मैं चलूँगा । जहाँ तक पता चलेगा, मैं तुम्हारे

मनोरथ के साफल्य के लिए प्रयत्न करूँगा। इस समय इस काम को ईश्वर के ऊपर छोड़ो। परीक्षा के दिन बहुत कम रह गये हैं। इसलिए सब ओर से मन हटाकर इसी ओर लगाना चाहिए। परीक्षा से निवृत्त होकर अपनी सब शक्तियाँ उधर लगायेंगे। मैं तुम्हारा साथ दूँगा।"

रामसुन्दर—"भाई सतीश, मुझे तुम्हारा बहुत भरोसा है। पूर्ण आशा है कि यदि तुम जैसे परोपकार-व्रती और देवोपम मित्र ने प्रयत्न किया, तो मेरा यह कार्य—जिसके कारण मेरी निद्रा और मेरी भूख, दोनों नष्ट हो गई हैं—जरूर सिद्ध हो जायेगा। मित्र, तुलसीदास जी ने ठीक ही कहा है—

यद्यपि जग दारुण दुख नाना।
सबतें कठिन जाति-अपमाना।"

नाव धीरे-धीरे किनारे पर आ लगी और ये दोनों नवयुवक उससे उतरकर कालेज की ओर चल दिये।

(४)

सरला की माता को मरे दो वर्ष बीत गए। सरला निश्चिन्तता-पूर्वक डाक्टर-बाबू के यहाँ रहती है। उसे अपनी माता की याद आती है ज़रूर, पर डाक्टर और उनकी वृद्धा माता के सद्व्यवहार से उसको कोई कष्ट नहीं। बल्कि, यह कहना चाहिए कि कोई ऐसा सुख नहीं, जो उसे प्राप्त न हो। राजा-बाबू उसको अपनी ही पुत्री समझते हैं। उसने भी अपने गुणों से उनको खूब प्रसन्न कर रखा है।

राजा-बाबू ने दो वर्ष बाद उस लिफाफे को खोला जिसको पढ़ने की आज्ञा सरला की माता, मरते समय दे गई थी। उसमें दो लिफाफे थे। जिस पर नम्बर एक पड़ा था, उसको खोलकर डाक्टर साहब पढ़ने लगे। उसमें लिखा था—

"आप मेरे परम हितैषी हैं। जो ऐसा न होता, तो यह लिफाफा

आप न पढ़ते। अब तक यह कब का अग्निदेव के सुपुर्द हो चुका होता। आप मेरी कन्या के संरक्षक हैं। इस कारण मैं आपसे नीचे लिखा वृत्तान्त कहती हूँ। सुनिए—

"मेरे पति दो भाई थे। पति की मृत्यु के बाद मेरे जेठ ने मुझसे अच्छा व्यवहार न किया। उन्होंने एक दिन क्रोधवश मुझे मकान से निकल जाने तक की आज्ञा दे दी। मेरे पति ने मरते समय, बिना विचार किए ही, अपने भाई की आज्ञा का पालन करने का आदेश मुझे दिया था, इसलिए स्वर्ग-गत पतिदेव की आज्ञा का स्मरण करके मुझे अपने जेठ की अत्यन्त अनुचित और अकारण दी हुई आज्ञा को शिरोधार्य करना पड़ा। मैं अपनी एकमात्र कन्या को लेकर घर से निकल चली। ओफ! कैसी भीषण रात्रि थी। उस समय के दुःख का हाल किसी भले और सम्मान्य घर की स्त्री के मन से ही पूछना चाहिए। मेरे शरीर पर कुछ आभूषण थे। उन्हीं के सहारे मैं कई सौ मील की यात्रा करके यहाँ आई और एक साधारण-सा मकान लेकर रहने लगी। मैंने जीवन भर प्रतिष्ठा के साथ अपना और अपनी प्यारी बेटी का पेट पाला। मैंने आन को रखा, जान गँवाकर। बस मेरा यही रहस्य है। अब यदि आप मेरा पूरा परिचय प्राप्त करना चाहें, तो दूसरे लिफाफे को खोलिए। उसमें आपको मेरे जेठ का लिखा हुआ एक रजिस्टर्ड इकरारनामा मिलेगा। उसमें उन्होंने मेरे पति की सम्पत्ति को मेरी सम्पत्ति से अलग, अर्थात् विभक्त बताया है। उसमें मेरे पतिदेव का पूरा पता भी प्रसंगवश आ गया है। उसको आप साधारण कागज न समझिए। उसके द्वारा मेरी एकमात्र कन्या सरला, ईश्वर उसे सानन्द रखे—एक दिन लाख रुपये से अधिक मूल्यवाली सम्पत्ति की अधिकारिणी बन सकती है, पर मैं नहीं चाहती कि उसका प्रयोग किया जाय। मुझे पूर्ण आशा है कि मेरी सरला अपने गुणों के कारण ही बहुत बड़ी सम्पत्ति की अधिकारिणी होगी।"

"अन्त में मैं, आपको हृदय से आशीर्वाद देती हूँ कि ईश्वर आपका भला करे, क्योंकि आपने मेरा और मेरी कन्या का भला किया है।"

डाक्टर राजनाथ को पत्र पढ़कर बड़ा आश्चर्य हुआ। वे बहुत देर तक ईश्वरीय माया और मरने वाली सती की दृढ़ प्रतिज्ञा पर विचार करते रहे। उन्होंने दूसरा लिफाफा बिना पढ़े ही अपने बक्स में बन्द कर दिया।

(५)

जब डाक्टर राजनाथ ने सतीश के पत्र में यह पढ़ा कि वह परीक्षा देकर मकान पर न आयेगा, तब उनको बड़ी चिन्ता हुई। उसका विचार कुछ दिन इधर-उधर घूमने का है और खर्च के लिए पाँच सौ रुपये माँगे हैं। डाक्टर राजनाथ ने पाँच सौ रुपये का नोट नीचे लिखी चिट्ठी के साथ उसके पास भेज दिया—

"प्रिय सतीश,

मुझे बड़ा विस्मय है कि तुम किधर जा रहे हो और क्यों? माताजी तुम्हें देखने के लिए बड़ी व्यग्र हैं। पर, मुझे भरोसा है, कि तुम किसी अच्छे उद्देश्य से ही जा रहे हो। खर्च भेजता हूँ। यथासाध्य शीघ्र लौटना।

शुभानुध्याई—

राजनाथ।"

पाँचवें छठे दिन इसका उत्तर आ गया। उसमें लिखा था—

"पूज्य मामा जी, प्रणाम।

कृपापत्र और ५००) के नोट मिले। मेरे मित्र पंडित रामसुन्दर को आप जानते ही हैं। उनका एक बहुत ही आवश्यक कार्य है, जिसमें वे मेरी सहायता चाहते हैं। उस कार्य के लिए इधर-उधर घूमना पड़ेगा। मैं आपको पहले पत्र में ही वह कार्य बता देता, जिसके लिए यह तैयारी है, पर उसको गुप्त रखने के लिए उन्होंने ताकीद कर दी है। अब आप यदि आज्ञा दें तो मैं उनके साथ चला जाऊँ। आपके उत्तर की मैं प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

सेवक—

सतीश।"

पत्र को पढ़कर राजा-बाबू कुछ देर तक सोचते रहे फिर उन्होंने नीचे लिखा हुआ प्रत्युत्तर अपने भानजे को भेजा—

"प्रिय सतीश,

मैं बड़ी प्रसन्नता से तुमको अपने मित्र के कार्य में सहायता देने की आज्ञा देता हूँ। खर्च के लिए जिस कदर रुपये की और जरूरत हो, निस्संकोच मँगा लेना। यात्रा से लौटते समय अपने मित्र को भी एक दिन के लिए इधर लाना। उनको बहुत दिनों से मैंने नहीं देखा। देखने को तबियत चाहती है। आशा है, वे मेरी प्रार्थना स्वीकार करेंगे।

शुभैषी—

राजनाथ।"

राजा-बाबू ने पत्र समाप्त ही किया था कि सरला ने चाँदी की तश्तरी में कुछ तराशे हुए फल उनके सामने रख दिए। राजा-बाबू फल खाते-खाते सरला से इधर-उधर की बातें करने लगे।

(६)

गरमी की बड़ी छुट्टियों के ८-१० दिन ही बाकी हैं। सतीश ने अबकी बार छुट्टी के तीनों महीने बाहर ही काटे। कल उसकी चिट्ठी आई है कि वह आज रात को रामसुन्दर सहित मकान पहुँचेगा। उसका कमरा साफ किया गया है। वृद्धा माता भी आज बड़ी खुशी से भोजन बना रही हैं। सरला के मन की आज अद्भुत दशा है। कभी तो वह हर्ष के मारे उछलने लगती है। और कभी किसी अज्ञात कारण से उसकी गति और भी कम पड़ जाती है। उसका मुख-सरोज घड़ी-घड़ी पर इन भावों के अस्तोदय के साथ खिलता और मुरझाता है। उसने यह भी सुना है कि सतीश के साथ उसके मित्र भी आयेंगे, जिनके काम में उसने अपनी सारी छुट्टियाँ खर्च की हैं। सरला मन ही मन सतीश के मित्र पर नाराज भी है, क्योंकि उसके कारण ही सतीश की छुट्टियों से वह फायदा नहीं उठा सकी।

सतीश रात की ६ बजे की ट्रेन से मकान पहुँच गया। राजा-बाबू उसकी प्रतीक्षा कर ही रहे थे। उन्होंने बड़े प्रेम से रामसुन्दर को अपने पास बिठाया और बड़े आग्रह से पूछा—"मुझे आशा है, तुम अपनी चेष्टाओं में अवश्य सफल हुए होगे।" रामसुन्दर ने निराशा-भरी आवाज में उत्तर दिया—"सफलता का कोई चिह्न नहीं मिला। भविष्य के लिए कोई आशा भी बाकी नहीं रही।" इस पर डाक्टर साहब ने उसे ढाढस देकर उसके चित्तक्षोभ को बहुत कुछ कम कर दिया।

सतीश मामा के चरण छूकर अन्दर गया। सरला को देखते ही उसका मुख-कमल खिल उठा। उसने देखा कि उसके काम की हर चीज ठीक रखी हुई है और बड़ी सावधानी से उसके आने की बाट देखी जा रही है। सरला ने मुस्कराकर, पर ताने के साथ, पूछा—

"अब की बार आपने कुल छुट्टियाँ बाहर ही बिता दीं?"

"मित्र के काम के लिए यह सब करना पड़ा, पर कोई फल न हुआ। इसके लिए मुझे भी दुख है।"

"आपके मित्र का ऐसा क्या काम था, जिसके लिए तीन महीने इधर-उधर घूमना पड़ा और फिर भी वह न हो सका?"

"उस काम का जिक्र करने से भी, सरला, मुझे दुख होता है। इसलिये, सुनकर तुम भी दुखी हुए बिना न रह सकोगी। भोजन की बात तो कहो, क्या देर है? भूख लग रही है।"

"बिलकुल तैयार है। मैं जाकर नौकर से आसन बिछाने के लिए कहती हूँ। आप, मामाजी और अपने मित्र को साथ लेकर आइये।"

यह कहकर सरला बड़ी फुरती से चली गई। उसने बड़े करीने से भोजन चुनना शुरू किया। तीन थालों में भोजन चुना। जिन चीजों को गरम रखने की जरूरत थी, वे अभी तक गरम पानी में रखी हुई थीं,

भोजन के साथ नहीं परोसी गई थीं। थोड़ी देर में डाक्टर साहब, सतीश और रामसुन्दर के साथ आ पहुँचे। भोजन शुरू हुआ, सरला ने बड़ी होशियारी से परोसना आरम्भ किया। भोजन करते समय इधर-उधर की बातें होने लगीं—

सतीश—मामाजी, स्टेशनों पर बहुत बुरा भोजन मिलता है। भाई रामसुन्दर, बलिया के स्टेशन की पूरियाँ याद हैं?

रामसुन्दर—और लखनऊ के स्टेशन के 'निखालिस दूध' को तो कभी न भूलियेगा।

सतीश—पर, तरकारी तो किसी भी स्टेशन की भूलने की नहीं।

डाक्टर साहब—ऐसे मौकों पर तो फल खा लेने चाहिएँ।

सतीश—मामाजी बड़े स्टेशनों को छोड़कर और स्टेशनों पर फल नहीं मिलते।

बातें भी जारी थीं। खाना भी जारी था। सरला का परोसना भी जारी था। रामसुन्दर यद्यपि बातों में योग दे रहा था, पर उसका ध्यान सरला ही की ओर था। वह बार-बार उसी को देखता था। उसकी इस हरकत से सतीश को थोड़ी-सी भीतरी जलन पैदा हुई। मानिनी सरला ने भी मन में कुछ बुरा माना। भोजन समाप्त हुआ। रामसुन्दर और सतीश ने एक कंठ से कहा—"तीन महीने में आज ही तृप्त होकर भोजन किया है।"

चलते समय रामसुन्दर ने मुड़कर एक बार फिर सरला को देखा। अब की बार तो सतीश जल ही गया। दोनों मित्र बाहर आये। सतीश को गुस्सा आ ही रहा था कि रामसुन्दर की इस बेहूदा हरकत पर उसको लानत-मलामत दे कि इतने ही में उसने पूछा—

"भाई यह लड़की कौन है? जब मैं पहले तुम्हारे यहाँ आया था तब तो यह यहाँ नहीं थी।"

मानो सतीश की प्रदीप्त क्रोधाग्नि पर मिट्टी का तेल पड़ा। उसने बड़ी घृणा के साथ कहा—

"रामसुन्दर तुम बड़े नीच हो। जब तक खाते रहे, तब तक उसकी ओर घूरते रहे, जब खाकर बाहर आये, तब फिर-फिर कर उसकी ओर देखते रहे। अब तुम्हारी नीचता इतनी बढ़ गई कि मुझसे भी उसी प्रकार के प्रश्न करने लगे। मुझे तुम्हारी नैतिक अवस्था पर बड़ा दुख है।"

सतीश की यह बकवास सुनकर रामसुन्दर को जरा भी क्रोध न आया। उसने बड़े विनीत भाव से कहा—

"भाई साहब, आप क्या कह रहे हैं? जो कुछ आपने मेरे आचरण के विषय मे कहा, ठीक है, पर यह आचरण किस दृष्टि से देखना चाहिए इस पर आपने विचार नहीं किया। मै समझता हूँ कि हमारा सैकड़ों मील इधर-उधर घूमना बेकार हुआ। जिसकी हमको तलाश थी, वह हमारे ही घर में मौजूद है। मैं सच कहता हूँ कि कई बार मेरे जी में आया कि अपनी नन्ही को हृदय से लगा लूँ। आप मामाजी से इसके विषय में पूछिए तो। मेरा हृदय कूद रहा है। कार्य सिद्ध हो गया।"

बड़े ही विस्मय और लज्जा के साथ सतीश ने पूछा—"रामसुन्दर, क्या सच कहते हो, यही तुम्हारी बहन नन्ही है?"

"मेरी अवस्था आठ वर्ष की थी, जब प्यारी नन्ही हमसे जुदा हुई थी। मुझे अब तक उसका चेहरा खूब याद है। वह हँसता हुआ और स्वर्गीय-कान्तिपूर्ण चेहरा आज भी मेरी आँखों के सामने फिर रहा है। सरला से उसका चेहरा बहुत मिलता है। मुझे खूब याद है, उसके गाल पर दो छोटे-छोटे स्याह तिल थे। सरला के चेहरे पर भी वैसे ही हैं। चलिए, मामाजी से इसके विषय में पूछ-ताछ करें।"

दोनों मित्र तत्काल डाक्टर साहब के कमरे में आये। डाक्टर साहब आराम-कुरसी पर लेटे कोई व्यवसाय-सम्बन्धी पुस्तक पढ़ना ही चाहते थे कि ये दोनों वहाँ पहुँच गये। उन्होंने कहा—

"सतीश, अब आराम करो। बहुत थके हो।"

सतीश ने धीरे से कहा—"मामाजी रामसुन्दर सरला के विषय में आपसे कुछ पूछना चाहते हैं।"

डाक्टर साहब ने भाव-पूर्ण दृष्टि से रामसुन्दर को देखा, जिसका चेहरा हर्ष और विस्मय के मिले हुए भावों से एक विशेष प्रकार का आकार धारण कर रहा था।

डाक्टर साहब ने कहा—

"सरला के विषय में आप क्या और क्यों पूछना चाहते हैं?"

रामसुन्दर बड़े विनीत भाव से बोला—

"मामाजी! आज मैं अपने घर का एक रहस्य सुनाता हूँ। उसी विषय में मैं और भाई सतीश इधर-उधर सैंकड़ों मील घूमते रहे। मगर सफलता तो क्या, उसके चिह्न तक भी नहीं मिले। अब मैं उस रहस्य को सुनाता हूँ। मेरे पिता दो भाई थे—रामप्रसाद और शिवप्रसाद। रामप्रसाद जी मेरे पिता थे। शिवप्रसाद जी के एक कन्या थी, जिसको घर के लोग स्नेहवश नन्ही कहा करते थे। वह मुझसे छह वर्ष छोटी थी। मेरे चाचा—नन्ही के पिता का देहान्त मेरे पिता के सामने ही हो गया था। मेरी चाची का स्वभाव बड़ा उग्र था। वे अपनी आन की बड़ी पक्की थीं। एक दिन मेरे पिता ने किसी घरेलू बात पर गुस्सा होकर उनसे घर से निकल जाने को बहुत ही बुरी बात कह दी। उसके लिए उनको सदा पश्चात्ताप रहा और इस बड़े भारी कलंक को साथ लिए ही उन्होंने इह-लोक का त्याग किया। मेरी चाची ने उसी रात को घर छोड़ दिया। नन्ही को भी वह साथ ले गयीं। मेरे पिता ने बहुत तलाश की, पर पता न लगा। मरते समय उन्होंने मुझसे अन्तिम नसीहत के तौर पर यही कहा कि जिस तरह हो, अपनी चाची और बहन का पता लगाना। यदि पता लग जाये, तो उनकी सम्पत्ति मय उस दिन तक के सूद के उनको दे देना। इस तरह मेरी आत्मा के कलंक को धोने की चेष्टा करना। मेरा गया-श्राद्ध इसे ही समझना। यदि पता न लगे, तो तू भी विवाह

मत करना। अपने शरीर के साथ ही वंश की समाप्ति कर देना, क्योंकि इस कलंक के साथ वंश-वृद्धि करना मानों कलंक को जिन्दा रखना है। बेटा, वंश-नाश ही इस पाप का एक छोटा-सा, पर भयानक प्रायश्चित्त है। आशा है, तुम इस प्रायश्चित्त द्वारा, मेरे कारण अपने वंश पर लगे इस कलंक से उसको मुक्त करने का, जरूरत हुई तो, सुप्रयत्न करोगे। यह कहते-कहते मेरे पिता के प्राण-पखेरू उड़ गए। उनकी मृत्यु के बाद से ही मैं व्यग्र था कि इस विषय में क्या करूँ। भाई सतीशचन्द्र से मैंने अपना रहस्य खोलकर कह दिया था। और इन्होंने सदा की तरह मेरे इस दुख में भी भाग लेना स्वीकार कर लिया था। अब जैसा कि आपको मालूम है, हम लोग सैंकड़ों मील का चक्कर और न मालूम किन-किन मुसीबतों को झेलकर वापिस आ गए और कार्य-सिद्धि न हुई। पर यहाँ आकर—यहाँ सरला को देखकर—मेरी अन्तरात्मा बार-बार यह कह रही है, कि यही मेरी बहन नन्ही है। अब आप कृपा करके यह बतलाइये कि सरला के विषय में मेरी जो यह धारणा है, उसको आप अमूलक तो नहीं समझते ?"

डाक्टर साहब ने बड़ी शान्ति से उत्तर दिया—

"रामसुन्दर, मैं इसके उत्तर में स्वयं कुछ न कहकर तुमको वे पत्र दिये देता हूँ, जो सरला की माता ने मरते समय सरला के साथ ही मुझे सुपर्द किए थे। मुझे प्रतीत होता है कि तुम अपनी चेष्टाओं में सफल हुआ चाहते हो।"

डाक्टर साहब ने बक्स खोलकर वे दोनों लिफाफे रामसुन्दर के हाथ में दे दिए, जो सरला की माता ने उनको दिए थे। रामसुन्दर ने दोनों लिफाफों को खोलकर पढ़ा। उनको पढ़ते ही उसको निश्चय हो गया कि उसकी चाची का ही यह पत्र है और उसके पिता का ही वह इकरारनामा है। सरला भी प्यारी नन्ही के सिवा और कोई नहीं। रामसुन्दर डाक्टर-बाबू के चरणों पर गिर पड़ा और सतीश, जो इस

अभिनय को देखकर आश्चर्य में डूब रहा था, उठकर बाहर चला गया। डाक्टर-बाबू ने सरला को बुलाया। वह तुरन्त आकर उपस्थित हो गई। रामसुन्दर भावावेश को न रोक सका और सरला को हृदय से लगाकर अश्रु-वर्षण करने लगा। यदि डाक्टर-बाबू सरला से यह न कहते, तो वह अपने को बड़ी विपत्ति में समझती—

"बेटी, ये तुम्हारे भाई रामसुन्दर हैं। तुम्हारी तलाश में बहुत दूर तक घूम आए हैं। तुम उस दिन कहती थीं कि तुम्हारी माता तुम से कभी-कभी जिक्र किया करती थीं कि सरला, तुम्हारे एक भाई है। वह अवश्य एक दिन तुमको मिलेगा। आज तुम्हारी स्वर्गीया माता की भविष्यवाणी पूरी हुई।"

(७)

चार मास के बाद डाक्टर राजनाथ ने नीचे लिखा हुआ निमन्त्रण-पत्र अपने मित्रों के नाम भेजा—

"प्रिय महोदय,

मेरे भानजे श्रीसतीशचन्द्र विद्यानिधि, एम० ए० का विवाह जौनपुर के सुप्रसिद्ध रईस स्वर्गीय पंडित शिवप्रसाद जी की कन्या के साथ होना निश्चित हुआ है। आपसे प्रार्थना है कि वसन्त-पंचमी के दिन शाम को मेरे निवास-स्थान पर पधार कर भोज में सम्मिलित हूजिए और दूसरे दिन प्रातःकाल ६ बजे की ट्रेन से बरात में सम्मिलित होकर मेरी मान-वृद्धि कीजिये।

निवेदक—

राजनाथ।"

कहने की जरूरत नहीं कि सरला का विवाह सतीश के साथ बड़ी धूम-धाम से हो गया। रामसुन्दर ने उसकी कुल सम्पत्ति दहेज में सरला के अर्पण कर दी। आज तक रामसुन्दर और सतीश मित्रता के ही जबरदस्त पाश में बद्ध थे, अब वे मित्रता और आत्मीयता के डबल पाश में बेतरह जकड़ गये।

'उसने कहा था'

श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

(जन्म—१८८३, मृत्यु—१९२२ ई०)

[जीवन परिचय—गुलेरी जी का जन्म जयपुर के समृद्ध घराने में हुआ था। इनके पिता जयपुर संस्कृत कालेज के प्रिंसिपल थे। प्रखर प्रतिभा-सम्पन्न चन्द्रधर शर्मा एक उच्च कोटि के विद्यार्थी थे। प्रयाग विश्वविद्यालय की एन्ट्रेंस की परीक्षा में आप सर्व प्रथम रहे। १९०४ में आपने बी० ए० की परीक्षा पास की और उसमें भी सर्व-प्रथम रहे। अपने विद्वान् पिता के पद-चिह्नों पर चलते हुए आप भी 'मेयो कालिज' अजमेर में संस्कृत के अध्यापक नियुक्त हो गए। प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं भाषा में आपकी विशेष रुचि थी। सन् १९०४-७ में आपने इन विषयों पर कुछ लेख लिखे जिनसे आपकी प्रसिद्धि विद्वत्-समाज में फैल गई। वैदिक संस्कृत, पाली तथा प्राकृत के आप श्रेष्ठ विद्वान् समझे जाने लगे। भाषा-विज्ञान तथा ऐतिहासिक दृष्टि से आपकी 'पुरानी हिन्दी' शीर्षक लेख बहुत महत्त्वपूर्ण है। सन् १९२० में, बनारस हिन्दू यूनीवर्सिटी' में आप 'कालेज आफ ओरियंटल लर्निंग एण्ड थियोलौजी' के प्रिंसिपल बन गए। आप हिन्दी कथासाहित्य के एक मात्र ऐसे कलाकार हैं जो केवल तीन कहानियाँ लिख कर ही हिन्दी साहित्य में अमर प्रदीप की भाँति जगमगा रहे हैं। आपकी पहली कहानी १९११ में 'भारतमित्र' में प्रकाशित हुई—दूसरी कहानी 'बुद्धू का काँटा' थी। तीसरी कहानी, जो हिन्दी कथासाहित्य में लोकप्रियता की दृष्टि से अद्वितीय

है, 'उसने कहा था' १६१५ में 'सरस्वती' में छपी थी। 'उसने कहा था' किसी भी 'कहानी संग्रह' का भूषण बन सकती है। आजकल इसी कहानी के आधार पर एक फिल्म का भी निर्माण हो रहा है।

कला की दृष्टि से गुलेरी जी की कहानियाँ एक अद्भुत प्रौढ़ता एवं परिपक्वता को लिए हुए हैं। यद्यपि इनकी कहानियाँ हिन्दी कथासाहित्य के प्रारम्भिक काल की रचनाएँ हैं—परन्तु उनमें कला का बहुत ही मँजा हुआ रूप मिलता है। गुलेरी जी को कला के संगठन का पूर्ण ज्ञान है। आप निर्दिष्ट वस्तु को ध्वनित करते हैं, अभिधा से नहीं कहते। चरित्र-चित्रण बहुत ही मनोवैज्ञानिक एवं सूक्ष्म ढंग का मिलता है। आप वातावरण की सृष्टि में दक्ष हैं। व्यंग्य विनोद के पुट से आपकी कहानियों में एक असाधारण रोचकता का समावेश हुआ है। आपकी कहानियों के शीर्षक बहुत ही उपयुक्त बन पड़े हैं तथा कहानी की लगभग सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। आप की भाषा सजीव है। भावों के अनुकूल वह एक ऐसे अनूठे साँचे में ढल कर तैयार हुई है कि देखते ही बन पड़ता है। संस्कृत के उत्कृष्ट विद्वान् होते हुए भी आपने कहानियों में वातावरण एवं देशकाल की सृष्टि के उपयुक्त देशज शब्दों का रमणीय प्रयोग किया है।

प्रस्तुत कहानी 'उसने कहा था' यथार्थवादी कला का उत्कृष्ट नमूना है। भाषा विधान, कथानक एवं अभिव्यक्ति सभी दृष्टियों से वह उच्च कोटि की बन पाई है। अमृतसर के बाजार का चित्र कलाकार की चित्रण शक्ति का सुन्दर उदाहरण है। बालक तथा बालिका के संवादों एवं चेष्टाओं में बाल मनोविज्ञान अपनी सम्पूर्ण सुषमा के साथ प्रतिबिम्बित होता है। मँगनी की बात सुनकर आहत हुए बालक का मार्ग में उलझते, भिड़ते एवं टकराते हुए घर लौटना, उसके हृदय की विप्लवमयी अवस्था की कितनी सुन्दर अभिव्यक्ति

है। और फिर अन्त में मरणोन्मुख लहनासिंह की पूर्व स्मृति के रूप में जब कहानी अपने प्रारम्भिक अंश से नाता जोड़ती हुई दीख पड़ती है तो मानों कला के क्षितिज पर इन्द्रधनुष ही मूर्तिमन्त हो उठता है। भाषा में ओज एवं प्रवाह है। चरित्र-चित्रण में मार्मिकता देखने को मिलती है। मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है।]

बड़े-बड़े शहरों के इक्के गाड़ी वालों की ज़बान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गई है और कान पक गए हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है कि अमृतसर के बम्बूकार्ट वालों की बोली का मरहम लगावें। जब बड़े-बड़े शहरों की चौड़ी सड़कों पर घोड़े की पीठ को चाबुक से धुनते हुए इक्के वाले कभी घोड़े की नानी से अपना निकट सम्बन्ध स्थिर करते हैं, कभी राह चलते पैदलों की आँखे न होने पर तरस खाते हैं, कभी उनके पैरों की अँगुलियों के पोरों को चीथकर अपने ही को सताया हुआ बताते हैं और संसार-भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर में उनकी बिरादरी वाले तंग, चक्करदार गलियों में, हर एक लड्ढी वाले के लिए ठहरकर सब्र का समुद्र उमड़ाकर 'बचो खालसा जी', 'हटो भाई जी', 'ठहरना भाई', 'आने दो लाला जी', 'हटो बाछा', कहते हुए सफेद फेंटों, खच्चरों और बत्तकों, गन्ने, खोमचे और भार वालों के जंगल में से राह खेते हैं, क्या मजाल है कि 'जी' और 'साहब' बिना सुने किसी को हटना पड़े। बात यह नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं, चलती है, पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती हुई। यदि कोई बुढ़िया बार-बार चितौनी देने पर भी लीक से नहीं हटती तो उनकी वचनावली के ये नमूने हैं—हट जा जीणे जोगिए; हट जा करमाँ वालिए; हट जा पुत्ताँ प्यारिए; बच जा लक्ष्मी वालिए। समष्टि में इसका अर्थ है कि तू जीने योग्य है, तू भाग्यों वाली है, तू पुत्रों को प्यारी है, लम्बी उमर तेरे सामने है, तू क्यों मेरे पहियों के नीचे आना चाहती है? बच जा।

ऐसे बम्बूकार्ट वालों के बीच में होकर एक लड़का और एक लड़की चौक की एक दूकान पर आ मिले। उसके बालों और इसके ढीले सुथने से जान पड़ता था कि दोनों सिख हैं। वह अपने मामा के केश धोने के लिए दही लेने आया था और यह रसोई के लिए बड़ियाँ। दूकानदार एक परदेशी से गुथ रहा था, जो सेर भर गीले पापड़ों की गड्डी को गिने बिना न हटता था।

'तेरे घर कहाँ हैं?'

'मगरे में,—और तेरे?'

'माझे में'—यहाँ कहाँ रहती है?'

'अतरसिंह की बैठक में, वे मेरे मामा होते हैं?'

'मैं भी मामा के यहाँ आया हूँ, उनका घर गुरु बाजार में है।

इतने में दूकानदार निबटा और इनका सौदा देने लगा। सौदा लेकर दोनों साथ-साथ चले। कुछ दूर जाकर लड़के ने मुस्कराकर पूछा—'तेरी कुड़माई हो गई?' इस पर लड़की कुछ आँखें चढ़ाकर 'धत्' कहकर दौड़ गई और लड़का मुँह देखता रह गया।

दूसरे-तीसरे दिन सब्जी वाले के यहाँ या दूध वाले के यहाँ अकस्मात् दिनों मिल जाते। महीना भर यही हाल रहा। दो-तीन बार लड़के ने फिर पूछा, 'तेरी कुड़माई हो गई?' और उत्तर में वही 'धत्' मिला। एक दिन जब फिर लड़के ने वैसे ही हँसी में चिढ़ाने के लिए पूछा तो लड़की, लड़के की सम्भावना के विरुद्ध बोली—'हाँ हो गई।'

'कब?'

'कल,—देखते नहीं यह रेशम से कढ़ा हुआ सालू।' लड़की भाग गई। लड़के ने घर की राह ली। रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेल दिया, एक छाबड़ी वाले की दिन भर की कमाई खोई, एक कुत्ते पर पत्थर मारा और एक गोभीवाले के ठेले में दूध उँडेल

दिया। सामने नहाकर आती हुई किसी वैष्णवी से टकराकर अन्धे की उपाधि पाई। तब कहीं घर पहुँचा।

(२)

'राम राम, यह भी कोई लड़ाई है! दिन-रात खंदकों में बैठे-बैठे हड्डियाँ अकड़ गईं। लुधियाने से दस गुना जाड़ा और मेंह और बरफ ऊपर से। पिंडलियों तक कीचड़ में धँसे हुए हैं। ग़नीम कहीं दीखता नहीं—घंटे दो घंटे में कान के परदे फाड़ने वाले धमाके के साथ सारी खंदक हिल जाती है और सौ-सौ गज धरती उछल पड़ती है। इस ग़ैबी गोले से बचे तो कोई लड़े। नगरकोट का जलजला सुना था। यहाँ दिन में पच्चीस जलजेल होते हैं। जो कहीं खंदक से बाहर साफा या कुहनी निकल गई, तो चटाक से गोली लगती है; न मालूम बेईमान मिट्टी में लेटे हुए या घास की पत्तियों में छिपे रहते हैं।'

'लहनासिंह, और तीन दिन हैं। चार तो खंदक में बिता ही दिए। परसों 'रिलीफ' आ जायगी और फिर सात दिन की छुट्टी। अपने हाथों झटका करेंगे और पेट भर खाकर सो रहेंगे। उसी फिरंगी मेम के बाग में, मखमल की सी हरी घास है। फल और दूध की वर्षा कर देती है। लाख कहते हैं, दाम नहीं लेती; कहती है तुम राजा हो, मेरे मुल्क को बचाने आये हो।'

'चार दिन तक पलक नहीं झँपी, बिना फेरे घोड़ा बिगड़ता है और बिना लड़े सिपाही। मुझे तो संगीन चढ़ाकर मार्च का हुक्म मिल जाय। फिर सात जर्मनों को अकेला मार कर न लौटूँ तो मुझे दरबार साहब की देहली पर मत्था टेकना नसीब न हो। पाजी कहीं के, कलों के घोड़े—संगीन देखते ही मुँह फाड़ देते हैं और पैर पकड़ने लगते हैं! यों अँधेरे में तीस-तीस मन का गोला फेंकते हैं। उस दिन धावा किया था—चार मील तक एक जर्मन भी नहीं छोड़ा था। पीछे जनरल साहब ने हट आने का कमान दिया, नहीं तो—'

'नहीं तो सीधे बर्लिन पहुँच जाते, क्यों ?' सूबेदार हजारासिंह ने मुस्कराकर कहा—'लड़ाई के मामले जमादार या नायक के चलाये नहीं चलते। बड़े अफ़सर दूर की सोचते हैं। तीन सौ मील का सामना है। एक तरफ बढ़ गए तो क्या होगा ?'

'सूबेदार जी, सच है'—लहनासिंह बोला—'पर करें क्या ? हड्डियों-हड्डियों में तो जाड़ा धँस गया है। सूर्य निकलता नहीं और खाई में दोनों तरफ से चम्बे की बावलियों के से सोते झर रहे हैं। एक धावा हो जाय तो गरमी आ जाय।' 'उदमी उठ, सिगड़ी में कोले डाल। वजीरा तुम चार जने बाल्टियाँ लेकर खाई का पानी बाहर फेंको। महासिंह शाम हो गई है, खाई के दरवाजे का पहरा बदल दें।' यह कहते हुए सूबेदार सारी खंदक में चक्कर लगाने लगे।

वजीरासिंह पलटन का विदूषक था। बाल्टी में गँदला पानी भर कर खाई के बाहर फेंकता हुआ बोला—'मैं पाधा बन गया हूँ। करो जर्मनी के बादशाह का तर्पण !' इस पर सब खिलखिला पड़े और उदासी के बादल फट गये।

लहनासिंह ने दूसरी बाल्टी भर कर उसके हाथ में देकर कहा—'अपनी बाड़ी के खरबूजों में पानी दो। ऐसा खाद का पानी पंजाब भर में नहीं मिलेगा।'

'हाँ, देश क्या है, स्वर्ग है। मैं तो लड़ाई के बाद सरकार से दस घुमाँ जमीन यहाँ माँग लूँगा और फलों के बूटे लगाऊँगा।'

'लाड़ी होराँ को भी यहाँ बुला लोगे ? या वही दूध पिलाने वाली फिरंगी मेम—'

'चुप कर। यहाँ वालों को शरम नहीं।'

'देश-देश की चाल है। आज तक मैं उसे समझा न सका कि सिख तम्बाकू नहीं पीते। यह सिगरेट देने में हठ करती है, ओठों में लगाना चाहती है, और मैं पीछे हटता हूँ तो समझती है कि राजा बुरा मान गया, अब मेरे मुलक के लिए लड़ेगा नहीं ?'

'अच्छा अब बोधासिंह कैसा है ?'

'अच्छा है ।'

'जैसे मैं जानता ही न होऊँ । रात भर तुम अपने दोनों कम्बल उसे ओढ़ाते हो और आप सिगड़ी के सहारे गुजर करते हो । उसके पहरे पर आप पहरा दे आते हो । अपने सूखे लकड़ी के तख्तों पर उसे सुलाते हो, आप कीचड़ में पड़े रहते हो । कहीं तुम माँदे न पड़ जाना । जाड़ा क्या है, मौत है और 'निमोनिया' से मरने वालों को मुरब्बे नहीं मिला करते ।'

'मेरा डर मत करो । मैं तो बुलेल की खड्ड के किनारे मरूँगा । भाई कीरतसिंह की गोदी पर मेरा सिर होगा और मेरे हाथ के लगाये हुए आँगन के आम के पेड़ की छाया होगी ।'

वजीरासिंह ने त्योरी चढ़ाकर कहा—'क्या मरने मारने की बात लगाई है ?'

इतने में एक कोने से पंजाबी गीत की आवाज सुनाई दी । सारी खंदक गीत से गूँज उठी और सिपाही फिर ताजे हो गये, मानो चार दिन से सोते और मौज ही करते रहे हों ।

(३)

दो पहर रात गई है । अँधेरा है । सन्नाटा छाया हुआ है । बोधासिंह खाली बिस्कुटों के तीन टिनों पर अपने दोनों कम्बल बिछाकर और लहनासिंह के दो कम्बल और एक ग्रानकोट ओढ़ कर सो रहा है । लहनासिंह पहरे पर खड़ा हुआ है । एक आँख खाई के मुख पर है और एक बोधासिंह के दुबले शरीर पर । बोधासिंह कराहा ।

'क्यों बोधासिंह भाई ! क्या है !'

'पानी पिलादो ।'

लहनासिंह ने कटोरा उसके मुँह से लगाकर पूछा—'कहो कैसे

हो ?' पानी पीकर बोधा बोला—'कँपनी छूट रही है। रोम-रोम के तार दौड़ रहे हैं। दाँत बज रहे हैं।'

'अच्छा, मेरी जरसी पहन लो।'

'और तुम ?'

'मेरे पास सिगड़ी है और मुझे गरमी लगती है। पसीना आ रहा है।'

'ना, मैं नहीं पहनता, चार दिन से तुम मेरे लिए—'

'हाँ, याद आई। मेरे पास दूसरी गरम जरसी है। आज सवेरे ही आई है। विलायत से मेमें बुन-बुनकर भेज रही हैं। गुरु उनका भला करें।' यों कहकर लहना अपना कोट उतार कर जरसी उतारने लगा।

'सच कहते हो ?'

'और नहीं झूठ ?' यों कहकर नाहीं करते बोधा को उसने जबरदस्ती जरसी पहना दी और आप खाकी कोट, ज़ीन का कुरता पहनकर पहरे पर आ खड़ा हुआ। मेम की जरसी की कथा केवल कथा थी।

आधा घंटा बीता। इतने में खाई के मुँह से आवाज आई:—'सूबेदार हजारासिंह।'

'कौन ? लपटन साहब ! हुक्म हुजूर !' कहकर सूबेदार तन कर फौजी सलाम करके सामने हुआ।

'देखो, इसी दम धावा करना होगा। मील भर की दूरी पर पूरब के कोने में एक जर्मन खाई है। उसमें पचास से ज्यादा जर्मन नहीं हैं। इन पेड़ों के नीचे-नीचे दो खेत काटकर रास्ता है। तीन-चार घुमाव हैं। जहाँ मोड़ है, वहाँ पन्द्रह जवान खड़े कर आया हूँ। तुम यहाँ दस आदमी छोड़कर सब को साथ ले उनसे जा मिलो। खंदक

छीनकर वहीं जब तक दूसरा हुक्म न मिले डटे रहो। हम यहाँ रहेगा।'

'जो हुक्म।'

चुपचाप सब तैयार हो गये। बोधा भी कम्बल उतारकर चलने लगा। तब लहनासिंह ने उसे रोका। लहनासिंह आगे हुआ, तो बोधा के बाप सूबेदार ने उँगली से बोधा की ओर इशारा किया। लहनासिंह समझकर चुप हो गया। पीछे दस आदमी कौन रहें, इस पर बड़ी हुज्जत हुई। कोई रहना न चाहता था। समझा बुझाकर सूबेदार ने मार्च किया। लपटन साहब लहना की सिगड़ी के पास मुँह फेर कर खड़े हो गये और जेब से सिगरेट निकालकर सुलगाने लगे। दस मिनट के बाद उन्होंने लहना की ओर हाथ बढ़ाकर कहा—'लो तुम भी पियो।'

आँख मारते-मारते लहनासिंह सब समझ गया। मुँह का भाव छिपाकर बोला—'लाओ, साहब।' हाथ आगे करते ही उसने सिगड़ी के उजाले में साहब का मुँह देखा, बाल देखे, तब उसका माथा ठनका। लपटन साहब के पट्टियों वाले बाल एक दिन में कहाँ उड़ गये और उनकी जगह कैदियों के-से कटे हुए बाल कहाँ से आ गये?

शायद साहब शराब पिये हुए हैं और उन्हें बाल कटवाने का मौका मिल गया है? लहनासिंह ने जाँचना चाहा। लपटन साहब पाँच वर्ष से उनकी रेजीमेंट में थे।

'क्यों साहब, हम लोग हिन्दुस्तान कब जायेंगे?'

'लड़ाई खत्म होने पर। क्यों क्या यह देश पसन्द नहीं?'

'नहीं साहब, शिकार के वे मजे यहाँ कहाँ? याद है, पारसाल नकली लड़ाई के पीछे हम और आप जगाधरी के जिले में शिकार करने गये थे—हाँ, हाँ—वहीं, जब आप खोते* पर सवार थे और आपका खानसामा अब्दुल्ला रास्ते के एक मन्दिर में जल चढ़ाने को

*गधे।

रह गया था ? 'बेशक, पाजी कहीं का। सामने से वह नीलगाय निकली कि ऐसी बड़ी मैंने कभी न देखी थी। और आपकी एक गोली कंधे में लगी और पुट्ठे में निकली। ऐसे अफसर के साथ शिकार खेलने में मजा है। क्यों साहब, शिमले से तैयार होकर उस नीलगाय का सिर आ गया था न ? आपने कहा था कि रेजिमेंट की मैस में लगायेंगे !' 'हो, पर मैंने वह विलायत भेज दिया' 'ऐसे बड़े-बड़े सींग ! दो-दो फुट के तो होंगे ?'

'हाँ, लहनासिंह दो फुट चार इंच के थे, तुमने सिगरेट नहीं पिया ?'

'पीता हूँ साहब दियासलाई ले आता हूँ' कहकर लहनासिंह खंदक में घुसा। अब उसे सन्देह नहीं रहा था। उसने झटपट निश्चय कर लिया कि क्या करना चाहिये।

अंधेरे में किसी सोने वाले से वह टकराया।

'कौन ? वजीरासिंह ?'

'हाँ, क्यों लहना ? क्या कयामत आ गई ? जरा तो आँख लगने दी होती ?'

(४)

'होश में आओ। कयामत आई है और लपटन साहब की वर्दी पहनकर आई है।'

'क्या ?'

'लपटन साहब या तो मारे गये हैं या कैद हो गये हैं। उनकी वर्दी पहनकर यह कोई जर्मन आया है। सूबेदार ने इसका मुँह नहीं देखा, मैंने देखा है और बातें की हैं। सौहरा* साफ उर्दू बोलता है, पर किताबी उर्दू। और मुझे पीने को सिगरेट दिया है ?'

'तो अब !'

---

*सुसरा (गाली)

'अब मारे गये। धोखा है। सूबेदार कीचड़ में चक्कर काटते फिरेंगे और यहाँ खाई पर धावा होगा। उधर उन पर खुले में धावा होगा। उठो, एक काम करो। पल्टन के पैरों के निशान देखते-देखते दौड़ जाओ। अभी बहुत दूर न गये होंगे। सूबेदार से कहो कि एक दम लौट आवें, खंदक की बात झूठ है। चले जाओ, खंदक के पीछे से निकल जाओ, पत्ता तक न खड़के। देर मत करो।'

'हुकुम तो यह है कि यहीं—'

'ऐसी तैसी हुकुम की। मेरा हुकुम—जमादार लहनासिंह जो इस वक्त यहाँ सबसे बड़ा अफसर है उसका हुकुम है। मैं लपटन साहब की खबर लेता हूँ।'

'पर यहाँ तो तुम आठ ही हो।'

'आठ नहीं, दस लाख। एक-एक अकाली सिख सवा लाख के बराबर होता है। चले जाओ।'

लौट कर खाई के मुहाने पर लहनासिंह दीवार से चिपक गया। उसने देखा कि लपटन साहब ने जेब से बेल के बराबर तीन गोले निकाले। तीनों को तीन जगह खंदक की दीवारों में घुसेड़ दिया और तीनों में एक तार-सा बाँध दिया। तार के आगे सूत की एक गुत्थी थी, जिसे सिगड़ी के पास रखा। बाहर की तरफ जाकर एक दियासलाई जलाकर गुत्थी पर रखने—

बिजली की तरह दोनों हाथों से उल्टी बन्दूक को उठाकर लहनासिंह ने साहब की कुहनी पर तान कर दे मारा। धमाके के साथ साहब के हाथ से दियासलाई गिर पड़ी। लहनासिंह ने एक कुंदा साहब की गर्दन पर मारा और साहब 'ओ माई गाड*' कहते हुए चित्त हो गये। लहनासिंह ने तीन गोले बीनकर खंदक के बाहर फेंके और साहब को घसीटकर सिगड़ी के पास लिटाया। जेबों की

*हाय! मेरे राम! (जर्मन)

तलाशी ली। तीन चार लिफाफे और एक डायरी निकाल कर उन्हें अपनी जेब के हवाले किया।

साहब की मूर्छा हटी। लहनासिंह हँसकर बोला—'क्यों लपटन साहब? मिजाज कैसा है? आज मैंने बहुत बातें सीखीं। यह सीखा कि सिख सिगरेट पीते हैं। यह सीखा कि जगाधरी के जिले में नीलगायें होती हैं और उनके दो फुट चार इंच के सींग होते हैं। यह सीखा कि मुसलमान खानसामा मूर्तियों पर जल चढ़ाते हैं और लपटन साहब खोते पर चढ़ते हैं, पर यह तो कहो, ऐसा साफ उर्दू कहाँ से सीख आये? हमारे लपटन साहब तो बिना 'डैम' के पाँच लफ्ज भी नहीं बोला करते थे।'

लहना ने पतलून की जेबों की तलाशी नहीं ली थी। साहब ने, मानो जाड़े से बचने के लिए, दोनों हाथ जेबों में डाले।

लहनासिंह कहता गया—'चालाक तो बड़े हो; पर माझे का लहना इतने बरस लपटन साहब के साथ रहा है। उसे चकमा देने के लिए चार आँखें चाहिएँ। तीन महीने हुए, एक तुरको मौलवी मेरे गाँव में आया था। औरतों को बच्चे होने का तावीज बाँटता था और बच्चों को दवाई देता था। चौधरी के बड़ के नीचे मंजा* बिछाकर हुक्का पीता रहता था और कहता था कि जर्मनी वाले बड़े पण्डित हैं। वेद पढ़कर उनमें से विमान चलाने की विद्या जान गये हैं। गौ को नहीं मारते। हिन्दुस्तान में आ जायेंगे तो गौहत्या बन्द कर देंगे। मण्डी में बनियों को बहकाता था कि डाकखाने से रुपये निकाल लो, सरकार का राज्य जाने वाला है। डाक बाबू पोल्हूराम भी डर गया था। मैंने मुल्ला जी की दाढ़ी मूँड़ दी थी और गाँव से बाहर निकाल कर कहा था कि जो मेरे गाँव में अब पैर रक्खा तो—'

साहब की जेब में से पिस्तौल चला और लहना की जाँघ में

---

*खटिया

गोली लगी। इधर लहना की हैनरी मार्टिनी के दो फायरों ने साहब की कपाल-क्रिया कर दी। धड़ाका सुनकर सब दौड़ आये।

बोधा चिल्लाया—'क्या है?'

लहनासिंह ने उसे तो यह कह कर सुला दिया कि एक हड़का हुआ कुत्ता आया था, मार दिया, और औरों से सब हाल कह दिया। सब बन्दूकें लेकर तैयार हो गये। लहना ने साफा फाड़ कर घाव के दोनों तरफ पट्टियाँ कस कर बाँधीं। घाव माँस में ही था। पट्टियों के कसने से लहू निकलना बन्द हो गया।

इतने में सत्तर जर्मन चिल्ला कर खाई में घुस पड़े। सिक्खों की बन्दूक की बाढ़ ने पहले धावे को रोका। पर यहाँ थे आठ (लहनासिंह तक-तक कर मार रहा था, वह खड़ा था, और लेटे हुए थे) और वे सत्तर। अपने मुर्दा भाइयों के शरीर पर चढ़कर जर्मन आगे घुसे आते थे। थोड़े से मिनटों में वे—

अचानक आवाज आई 'वाह गुरुजी की फतह! वाह गुरुजी का खालसा!' और धड़ाधड़ बन्दूकों के फायर जर्मनों की पीठ पर पड़ने लगे। ऐन मौके पर जर्मन दो चक्की के पाटों के बीच में आ गये। पीछे से सूबेदार हजारासिंह के जवान आग बरसाते थे और सामने लहनासिंह के साथियों के संगीन चल रहे थे। पास आने पर पीछे वालों ने भी संगीन पिरोना शुरू कर दिया। एक किलकारी और—'अकाल सिक्खाँ दी फौज आई। वाह गुरुजी दी फतह! वाह गुरुजी दी खालसा!! सत श्री अकाल पुरुख!!!' और लड़ाई खतम हो गई। तिरसठ जर्मन या तो खेत रहे थे या कराह रहे थे। सिक्खों में पन्द्रह के प्राण गये। सूबेदार के दाहिने कंधे में से गोली आर-पार निकल गई। लहनासिंह की पसली में एक गोली लगी। उसने घाव को खंदक की गीली मिट्टी से पूर लिया और बाकी को साफा कसकर कमरबंद की तरह लपेट लिया। किसी को खबर न हुई कि लहना के दूसरा घाव—भारी घाव लगा है।

लड़ाई के समय चाँद निकल आया था, ऐसा चाँद जिसके प्रकाश से संस्कृत-कवियों का दिया हुआ 'क्षयी' नाम सार्थक होता है और हवा ऐसी चल रही थी जैसी कि बाणभट्ट की भाषा में 'दन्तवीणोपदेशाचार्य्य' कहलाती । वजीरासिंह कह रहा था कि कैसे मन-मन-भर फ़ांस, की भूमि मेरे बूटों से चिपक रही थी, जब मैं दौड़ा-दौड़ा सूबेदार के पीछे गया था। सूबेदार ने लहनासिंह से सारा हाल सुना और काग़जात पाकर वे उसकी तुरत-बुद्धि को सराह रहे थे और कह रहे थे कि तू न होता तो आज सब मारे जाते ।

इस लड़ाई की आवाज तीन मील दाहिनी ओर की खाई वालों ने सुन ली थी। उन्होंने पीछे टेलीफोन कर दिया था। वहाँ से झट-पट दो डाक्टर और दो बीमार ढोने की गाड़ियाँ चलीं, जो कोई डेढ़ घंटे के अन्दर-अन्दर आ पहुँचीं। फील्ड अस्पताल नजदीक था। सुबह होते-होते वहाँ पहुँच जायेंगे, इसलिए मामूली पट्टी बाँध कर एक गाड़ी में घायल लिटाये गये और दूसरी में लाशें रक्खी गईं। सूबेदार ने लहनासिंह की जाँघ में पट्टी बँधवानी चाही, पर उसने यह कहकर टाल दिया कि थोड़ा घाव है, सवेरे देखा जायगा। बोधासिंह ज्वर में बर्रा रहा था। वह गाड़ी में लिटाया गया। लहना को छोड़कर सूबेदार जाते नहीं थे। यह देख लहना ने कहा—'तुम्हें बोधा की कसम है और सूबेदारनी जी की सौगंध है, जो इस गाड़ी में न चले जाओ।'

'और तुम ?'

'मेरे लिए वहाँ पहुँच कर गाड़ी भेज देना। और जर्मन मुर्दों के लिए भी तो गाड़ियाँ आती होंगी। मेरा हाल बुरा नहीं है। देखते नहीं, मैं खड़ा हूँ ? वजीरासिंह मेरे पास ही है।'

'अच्छा, पर—'

'बोधा गाड़ी पर लेट गया ? भला। आप भी चढ़ जाओ।

सुनिए तो, (सूबेदारनी होरां को चिट्ठी लिखो तो मेरा मत्था टेकना लिख देना और जब घर जाओ तो कह देना कि मुझसे जो उसने कहा था, वह मैंने कर दिया।)'

गाड़ियाँ चल पड़ी थीं। सूबेदार ने चढ़ते-चढ़ते लहना का हाथ पकड़ कर कहा—'तूने मेरे और बोधा के प्राण बचाये हैं। लिखना कैसा? साथ ही घर चलेंगे। अपनी सूबेदारनी को तू ही कह देना। उसने क्या कहा था?'

'अब आप गाड़ी पर चढ़ जाओ। मैंने जो कहा, वह लिख देना।'

गाड़ी के जाते ही लहना लेट गया—'वजीरा पानी पिला दे और मेरा कमरबंद खोल दे। तर हो रहा है।'

(५)

मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ हो जाती है। जन्म भर की घटनाएँ एक-एक करके सामने आती हैं। सारे दृश्यों के रंग साफ होते हैं, समय की धुंध बिलकुल उन पर से हट जाती है।

× × ×

लहनासिंह बारह वर्ष का है। अमृतसर में मामा के यहाँ आया हुआ है। दही वाले के यहाँ, सब्जी वाले के यहाँ, हर कहीं उसे एक आठ वर्ष की लड़की मिल जाती है। जब वह पूछता है, तेरी कुड़माई हो गई? तब 'धत्' कह कर वह भाग जाती है। एक दिन उसने वैसे ही पूछा तो उसने कहा—'हाँ, कल हो गई, देखते नहीं यह रेशम के फूलों वाला सालू?' सुनते ही लहनासिंह को दुःख हुआ। क्रोध हुआ। क्यों हुआ?

'वजीरासिंह पानी पिला दे।'

× × ×

पच्चीस वर्ष बीत गये। अब लहनासिंह नं० ७७ राइफल्स में

जमादार हो गया है। उस आठ वर्ष की कन्या का ध्यान ही न रहा। न मालूम वह कभी मिली थी, या नहीं। सात दिन की छुट्टी लेकर जमीन के मुकद्मे की पैरवी करने वह अपने घर गया। वहाँ रेजिमेंट के अफसर की चिट्ठी मिली कि फौज लाम पर जाती है। फौरन चले आओ। साथ ही सूबेदार हजारासिंह की चिट्ठी मिली कि मैं और बोधासिंह भी लाम पर जाते हैं। लौटते हुए हमारे घर होते जाना। साथ चलेंगे। सूबेदार का गाँव रास्ते में पड़ता था और सूबेदार उसे बहुत चाहता था। लहनासिंह सूबेदार के यहाँ पहुँचा।

जब चलने लगे, तब सूबेदार 'बेड़े' में से निकल कर आया। बोला—'लहना, सूबेदारनी तुम को जानती हैं। बुलाती हैं?' कब से? रेजिमेंट के क्वार्टरों में तो कभी सूबेदार के घर के लोग रहे नहीं। दरवाजे पर जाकर 'मत्था टेकना' कहा। असीस सुनी। लहनासिंह चुप।

'मुझे पहचाना?'

'नहीं।'

'तेरी कुड़माई हो गई?—धत्—कल हो गई—देखते नहीं रेशमी बूटों वाला सालू—अमृतसर में—'

भावों की टकराहट से मूर्छा खुली। करवट बदली। पसली का घाव बह निकला।

'वजीरा, पानी पिला'—'उसने कहा था।'

× × ×

स्वप्न चल रहा है सूबेदारनी कह रही है—'मैंने तेरे को आते ही पहचान लिया। एक काम कहती हूँ। मेरे तो भाग फूट गये। सरकार ने बहादुरी का खिताब दिया है, लायलपुर में जमीन दी है, आज नमकहलाली का मौका आया है। पर सरकार ने हम तीमियों*

*स्त्रियों।

की एक घघरिया पलटन क्यों न बना दी जो मैं भी सूबेदार जी के साथ चली जाती ? एक बेटा है। फौज में भर्ती हुए उसे एक ही बरस हुआ। उसके पीछे चार और हुए, पर एक भी नहीं जिया।' सूबेदारनी रोने लगी—'अब दोनों जाते हैं। मेरे भाग ! तुम्हें याद है, एक दिन टाँगे वाले का घोड़ा दही वाले की दूकान के पास बिगड़ गया था। तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाये थे। आप घोड़े की लातों में चले गये थे और मुझे उठा कर दूकान के तख्ते पर खड़ा कर दिया था। ऐसे ही इन दोनों को बचाना। यह मेरी भिक्षा है। तुम्हारे आगे मैं आँचल पसारती हूँ।'

रोती-रोती सूबेदारनी ओवरी[1] में चली गई। लहना भी आँसू पोंछता हुआ बाहर आया।

'वजीरासिंह, पानी पिला'—'उसने कहा था।'

लहना का सिर अपनी गोद में रखे वजीरासिंह बैठा है। जब माँगता है, तब पानी पिला देता है। आध घण्टे तक लहना चुप रहा, फिर बोला—'कौन ? कीरतसिंह ?'

वजीरा ने कुछ समझ कर कहा—'हाँ।'

'भइया, मुझे और ऊँचा कर ले। अपने पट्ट[2] पर मेरा सिर रख ले।'

'हाँ, अब ठीक है। पानी पिला दे। बस, अब के हाड़[3] में यह आम खूब फलेगा। चाचा भतीजा दोनों यहीं बैठकर आम खाना। जितना बड़ा तेरा भतीजा है उतना ही बड़ा यह आम है। जिस महीने उसका जन्म हुआ था उसी महीने में मैंने इसे लगाया था।

वजीरासिंह के आँसू टप-टप टपक रहे थे।

× × ×

कुछ दिन पीछे लोगों ने अखबारों में पढ़ा—फ्रांस और बेल्जियम-६८वीं सूची—मैदान में घावों से मरा—नं० ७७ सिख राइफल्स, जमादार लहनासिंह।

---

१. अन्दर का घर, २. जाँघ, ३. आषाढ़।

दुस्साहस

मुन्शी प्रेमचन्द

(जन्म—१८८०, मृत्यु—१९३६ ई०)

[जीवन परिचय—प्रेमचन्द जी का जन्म बनारस जिले के लमही गाँव में हुआ था। आपका असली नाम धनपतराय था। १४ वर्ष की अवस्था में इनके पिता की मृत्यु हो गई। परिवार का सारा बोझ इनके कन्धों पर आ पड़ा—घर की आर्थिक विषमता तथा परिस्थितियों के अनुकूल न होने पर भी आपने अपना अध्ययन जारी रक्खा। काशी में एंट्रेंस की परीक्षा पास कर आप १८ रु० मासिक पर अध्यापक हो गए। प्राइवेट परीक्षा देकर आपने बी० ए० पास किया और इसी तरह उन्नति करते-करते आप सरकारी शिक्षा विभाग में डिप्टी इन्सपैक्टर हो गए। सन् १९२० में महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन से प्रभावित होकर आपने सरकारी नौकरी से त्याग पत्र दे दिया। तदुपरान्त आपने साहित्य रचना को ही आजीविका का साधन बनाया तथा अपने आप को 'कलम का मजदूर' समझने लगे। सत्यनिष्ठा तथा दृढ़ संकल्प से साहित्य की सतत् सेवा करते हुए आपका १९३६ में देहान्त हो गया।

प्रेमचन्द जी को विद्यार्थी जीवन से ही कहानियों तथा उपन्यासों के प्रति विशेष रुचि थी—आपने अनेकों उपन्यास घरवालों से छिपाकर पढ़े थे। छोटी उम्र में ही आपने लिखना भी आरम्भ कर दिया था। सन् १९०७ में आपकी पहली कहानी 'संसार का सबसे अनमोल रत्न' उर्दू की पत्रिका 'जमाना' में छपी। इनकी प्रारम्भिक कहानियों में स्वदेश-प्रेम का स्वर प्रधान था इसीलिए ब्रिटिश सरकार को उनमें

राजद्रोह का तत्त्व दिखाई पड़ा। इस पर सरकार की ओर से यह पाबन्दी लगा दी गई कि नवाबराय के नाम से प्रत्येक रचना प्रकाशित करने से पूर्व, वह अधिकारी वर्ग की स्वीकृति प्राप्त करें। परन्तु एक स्वतन्त्रता प्रिय लेखक को यह कैसे मान्य हो सकता था। आपने अपना नाम नवाबराय से बदल कर प्रेमचन्द रख लिया। और पुनः साहित्य रचना में प्रवृत्त हुए। इसके उपरान्त हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक श्री मन्नन द्विवेदी की प्रेरणा से आप हिन्दी में लिखने लगे। १६१६ में इनकी हिन्दी की पहिली कहानी 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। इसके उपरान्त इनकी कहानियों का प्रथम संग्रह 'सप्तसरोज' प्रकाशित हुआ जिसने हिन्दी जगत में आपकी लोक प्रियता को चार चाँद लगा दिये। इन्होंने लगभग २५०–३०० कहानियाँ लिखीं जो सप्तसरोज, नवनिधि, प्रेमपच्चीसी, प्रेमपूर्णिमा 'मानसरोवर' नामक संग्रहों में संकलित हैं।

यद्यपि प्रेमचन्द हिन्दी औपन्यासिक जगत के सम्राट् माने जाते हैं फिर भी कुछ आलोचकों के मत में आप कहानीकार के रूप में अपेक्षाकृत अधिक सफल रहे हैं। सन् १६३०–३६ के बीच में रचित कहानियाँ तो भाव तथा कला की दृष्टि से बहुत उच्च कोटि की समझी जाती हैं—कफ़न, नशा, पूस की रात, बड़े घर की बेटी, आत्माराम, बूढ़ी काकी, अलग्योझा आदि इनकी सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ मानी जाती हैं। प्रेमचन्द जी ने अपनी कहानियों में मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को चुना है—पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक, मनो-वैज्ञानिक आदि विविध विषयों पर आपने कहानियाँ लिखीं। यद्यपि विविध वर्गों के पात्रों को इन्होंने अपनी कहानियों में ग्रहण किया है लेकिन अधिकांश कहानियाँ ग्रामीण पात्रों से ही सम्बन्धित हैं—ग्रामीण जीवन का जितना जीता जागता चित्रण इनकी रचनाओं में मिलता है वह हिन्दी के अन्य किसी लेखक की रचनाओं में नहीं मिलता। उपन्यासों में आप जितने व्यापक राष्ट्रीय धरातल को लेकर

चले हैं वह भी अन्यत्र दुर्लभ है। लेकिन परिपार्श्व की व्यापकता के कारण, उपन्यासों में मनोभावों की सूक्ष्म अभिव्यक्ति की जो कमी रह गई थी, वह इनकी कहानियों में व्याज समेत पूरी हुई है। मानव मन का जितना गहरा अध्ययन, एवं जीवन का गम्भीर अनुभव इनकी कहानियों में झलकता है वह अपूर्व एवं अद्वितीय है। इनकी सर्व ग्राहणी दृष्टि से कोई भी वर्ग अछूता न रह सका। इनकी व्यापक सहानुभूति प्रत्येक पात्र के आंसू पोंछती दिखाई पड़ती है। आपकी कहानियों में आदर्श तथा यथार्थ का सुन्दर सम्मिश्रण दृष्टिगोचर होता है। आपकी कहानियों में जीवन का प्रत्येक पक्ष, उपयुक्त वातावरण, कौतूहल तथा प्रवाह के साथ चित्रित हुआ है। मानसिक भावों का विश्लेषण तथा गूढ़ भावों की अभिव्यक्ति जिस कौशल तथा सजीवता के साथ हुई है, वह अप्रतिम है। इनकी कहानियों में भाषा का प्रचलित सरल रूप मिलता है, परन्तु व्यंग्य, हास्य तथा मुहावरों के सुन्दर प्रयोग से वह इतनी रोचक एवं सशक्त बन गई है कि देखते ही बनता है। वास्तव में हिन्दी कथा साहित्य में आपका स्थान कोई अन्य लेखक नहीं ले पाया है। इनकी कहानियों का अनुवाद प्रादेशिक भाषाओं में ही नहीं अपितु विदेशी भाषाओं में भी हो रहा है तथा इनकी ख्याति विश्व में दिनों दिन बढ़ती जा रही है।]

लखनऊ के नौबस्ते मोहल्ले में एक मुन्शी मंकूलाल मुख्तार रहते थे। बड़े उदार, दयालु और सज्जन पुरुष थे। अपने पेशे में इतने कुशल थे कि ऐसा विरला ही कोई मुकदमा होता था जिसमें वह किसी-न-किसी पक्ष की ओर से न जाते हों। साधु-सन्तों से भी उन्हें प्रेम था। उनके सत्संग से उन्होंने कुछ तत्वज्ञान और कुछ गांजे-चरस का अभ्यास प्राप्त कर लिया था। रही शराब, यह उनकी कुल-प्रथा थी। शराब के नशे में वह कानूनी मसौदे खूब लिखते थे, उनकी बुद्धि प्रज्ज्वलित हो जाती थी। गांजे और चरस का प्रभाव उनके ज्ञान पर पड़ता था। दम लगाकर वह वैराग्य और ध्यान में तल्लीन हो जाते थे।

मोहल्ले वालों पर उनका बड़ा रोब था। लेकिन यह उनकी कानूनी प्रतिभा का नहीं, उनकी उदार सज्जनता का फल था। मोहल्ले के इक्केवान, ग्वाले और कहार उनके आज्ञाकारी थे, सौ काम छोड़कर उनकी खिदमत करते थे। उनकी मद्यजनित उदारता ने सबों को वशीभूत कर लिया था। वह नित्य कचहरी से आते ही अलगू कहार के सामने दो रुपये फेंक देते थे। कुछ कहने-सुनने की जरूरत न थी, अलगू इसका आशय समझता था। शाम को शराब की एक बोतल और कुछ गाँजा तथा चरस मुन्शी जी के सामने आ जाता था। बस महफिल जम जाती। यार लोग आ पहुँचते। एक ओर मुवक्किलों की कतार बैठती, दूसरी ओर सहवासियों की। वैराग्य और ज्ञान की चर्चा होने लगती। बीच-बीच में मुवक्किलों से भी मुकदमे की दो-एक बातें कर लेते। दस बजे रात को वह सभा विसर्जित होती थी। मुन्शी जी अपने पेशे और इस ज्ञान-चर्चा के सिवा और कोई दर्दे-सिर मोल न लेते थे। देश के किसी आन्दोलन, किसी सभा, किसी सामाजिक सुधार से उनका सम्बन्ध न था। इस विषय में वह सच्चे विरक्त थे। बंग-भंग हुआ, स्वदेशी आन्दोलन हुआ, नरम-गरम दल बने, राजनैतिक सुधारों का आविर्भाव हुआ, स्वराज्य की आकांक्षा ने जन्म लिया, आत्मरक्षा की आवाजें देश में गूंजने लगी, किन्तु मुन्शी जी की अविरल शान्ति में जरा भी विघ्न न पड़ा। अदालत और शराब के सिवाय वह संसार की सभी चीजों को माया समझते थे, सभी से उदासीन रहते थे।

(२)

चिराग जल चुके थे। मुन्शी मैकूलाल की सभा जम गयी थी, उपासकगण जमा हो गये थे, अभी तक मदिरा देवी प्रकट न हुई थी। अलगू बाजार से न लौटा था। सब लोग बार-बार उत्सुक नेत्रों से द्वार की ओर ताक रहे थे। एक आदमी बरामदे में प्रतीक्षास्वरूप खड़ा था, दो-तीन सज्जन टोह लेने के लिये सड़क पर खड़े थे। लेकिन अलगू आता

नजर न आता था। आज जीवन में पहला अवसर था कि मुन्शी जी को इतना इन्तजार खींचना पड़ा। उनकी प्रतीक्षाजनित उद्विग्नता ने गहरी समाधि का रूप धारण कर लिया था, न कुछ बोलते थे, न किसी ओर देखते थे। समस्त शक्तियाँ प्रतीक्षा-बिन्दु पर केन्द्रीभूत हो गयीं।

अकस्मात् सूचना मिली कि अलगू आ रहा है। मुन्शी जी जाग पड़े, सहवासीगण खिल गये, आसन बदलकर सँभल बैठे, उनकी आँखें अनुरक्त हो गयीं। आशामय विलम्ब आनन्द को और बढ़ा देता है।

एक क्षण में अलगू आकर सामने खड़ा हो गया। मुन्शी जी ने उसे डाँटा नहीं, यह पहला अपराध था, इसका कुछ-न-कुछ कारण अवश्य होगा, दबे हुए पर उत्कण्ठायुक्त नेत्रों से अलगू के हाथ की ओर देखा। बोतल न थी। यह अप्राकृतिक घटना थी, उन्हें इस पर क्रोध न आया, नम्रता के साथ पूछा—बोतल कहाँ है?

अलगू—आज नहीं मिली।

मैकूलाल—यह क्यों?

अलगू—दूकान के दोनों नाके रोके हुए सुराजवाले खड़े हैं, किसी को उधर जाने ही नहीं देते।

अब मुन्शी जी को क्रोध आया, अलगू पर नहीं, स्वराज्यवालों पर। उन्हें मेरी शराब बन्द करने का क्या अधिकार है? तर्क भाव से बोले—तुमने मेरा नाम नहीं लिया।

अलगू—बहुत कहा, लेकिन वहाँ कौन किसी की सुनता था? सभी लोग लौटे आते थे, मैं भी लौट आया।

मुन्शी—चरस लाये?

अलगू—वहाँ भी यही हाल था।

मुन्शी—तुम मेरे नौकर हो या स्वराज्यवालों के?

अलगू—मुँह में कालिख लगवाने के लिए थोड़े ही नौकर हूँ!

मुन्शी—तो क्या वहाँ बदमाश लोग मुँह में कालिख भी लगा रहे हैं ?

अलगू—देखा तो नहीं लेकिन सब यही कहते थे ।

मुन्शी—अच्छी बात है, मैं खुद जाता हूँ, देखूँ किसकी मजाल है जो रोके । एक-एक को लाल घर दिखा दूँगा, यह सरकार का राज है, कोई बदअमली नहीं है । वहाँ कोई पुलिस का सिपाही नहीं था ?

अलगू—थानेदार साहब आप ही खड़े सबसे कहते थे जिसका जी चाहे जाए शराब ले या पीये, लेकिन लोग लौटे आते थे, उनकी कोई न सुनता था।

मुन्शी—थानेदार मेरे दोस्त हैं, चलो जी ईदू, चलते हो ? रामबली, बेचन, झिनकू सब चलो । एक-एक बोतल ले लो, देखूँ कौन रोकता है । कल ही तो मजा चखा दूँगा ।

(३)

मुन्शी जी अपने चारों साथियों के साथ शराबखाने की गली के सामने पहुँचे तो वहाँ बहुत भीड़ थी । बीच में दो सौम्य मूर्तियाँ खड़ी थीं । एक मौलाना ज़ामिन थे जो शहर के मशहूर मुजतहिद थे; दूसरे स्वामी घनानन्द थे जो वहाँ की सेवासमिति के स्थापक और प्रजा के बड़े हित-चिन्तक थे । उनके सम्मुख ही थानेदार साहब कई कानस्टेबलों के साथ खड़े थे । मुन्शी जी और उनके साथियों को देखते ही थानेदार साहब प्रसन्न होकर बोले—आइए मुख्तार साहब, क्या आज आप ही को तकलीफ करनी पड़ी ? यह चारों आप ही के हमराह हैं न ?

मुन्शी जी बोले—जी हाँ, पहले आदमी भेजा, वह नाकाम वापस गया। सुना आज यहाँ हरबोंग मची हुई है, स्वराज्यवाले किसी को अन्दर जाने ही नहीं देते ।

थानेदार—जी नहीं, यहाँ किसकी मजाल है जो किसी के काम में

हाजिर हो सके। आप शौक से जाइए। कोई चूँ तक नहीं कर सकता। आखिर मैं यहाँ किस लिए हूँ?

मुन्शी जी ने गौरवोन्मत्त दृष्टि से अपने साथियों को देखा और गली में घुसे कि इतने में मौलाना जामिन ने ईदू से बड़ी नम्रता से कहा—दोस्त, यह तो तुम्हारी नमाज का वक्त है, यहाँ कैसे आये? क्या इसी दीनदारी के बल पर खिलाफत का मसला हल करेंगे?

ईदू के पैरों में जैसे लोहे की बेड़ी पड़ गयी। लज्जित भाव से खड़ा भूमि की ओर ताकने लगा। आगे कदम रखने का साहस न हुआ।

स्वामी घनानन्द ने मुन्शी जी और उनके बाकी तीनों साथियों से कहा—बच्चा, यह पञ्चामृत लेते जाओ, तुम्हारा कल्याण होगा। झिनकू, रामबली और बेचन ने अनिवार्य भाव से हाथ फैला दिये और स्वामी जी से पञ्चामृत लेकर पी गये। मुन्शी जी ने कहा—इसे आप खुद पी जाइए मुझे जरूरत नहीं।

स्वामीजी उनके सामने हाथ जोड़कर खड़े हो गये और विनीत भाव से बोले—इस भिक्षुक पर आज दया कीजिए, उधर न जाइये।

लेकिन मुन्शी जी ने उनका हाथ पकड़कर सामने से हटा दिया और गली में दाखिल हो गये। उनके तीनों साथी स्वामी जी के पीछे सिर झुकाये खड़े रहे।

मुन्शी—रामबली, झिनकू आते क्यों नहीं? किसकी ताकत है कि हमें रोक सके।

झिनकू—तुम ही काहे नाहीं लौट आवत हौ। साधु-सन्तन की माने का होत है।

मुन्शी—इसी हौसले पर घर से निकले थे?

रामबली—निकले थे कि कोई जबर्दस्ती रोकेगा तो उससे समझेंगे । साधुसन्तों से लड़ाई करने थोड़े ही चले थे ।

मुन्शी—सच कहा है, गँवार भेड़ होते है ।

बेचन—आप शेर हो जायँ, हम भेड़ ही बने रहेंगे ।

मुन्शी जी अकड़ते हुए शराबखाने में दाखिल हुए । दूकान पर उदासी छायी हुई थी, कलवार अपनी गद्दी पर बैठा ऊँघ रहा था । मुन्शी जी की आहट पाकर चौंक पडा उन्हे तीव्र दृष्टि से देखा मानो यह कोई विचित्र जीव है, बोतल भर दी और फिर ऊँघने लगा ।

मुन्शी जी गली के द्वार पर आये तो अपने साथियों को न पाया । बहुत-से आदमियों ने उन्हें चारों तरफ से घेर लिया और निन्दासूचक बोलियाँ बोलने लगे ।

एक ने कहा—दिलावर हो तो ऐसा हो ।

दूसरा बोला—शर्म चे कुत्तीस्त के पेशे मरदाँ बिबाश्रद (मरदों के सामने लज्जा नहीं आ सकती ।)

तीसरा बोला—है कोई पियक्कड़ पक्का लतिहर ।

इतने में थानेदार साहब ने आकर भीड़ हटा दी । मुन्शी जी ने उन्हें धन्यवाद दिया और घर चले । एक कानस्टेबल भी रक्षार्थ उनके साथ चला ।

(४)

मुन्शी जी के चारों मित्रों ने बोतलें फेंक दीं और आपस में बात करते हुए चले ।

झिनकू—एक बेर हमारा एक्का बेगार में पकड़ जात रहे तो यही स्वामी जी चपरासी से कह सुनके छुड़ाय दिहेन रहा ।

रामबली—पिछले साल जब हमारे घर में आग लगी थी तब भी तो यही सेवा-समिति वालों को लेकर पहुँच गये थे, नहीं तो घर में एक सूत न बचता ।

बेचन—मुख्तार अपने सामने किसी को गिनते ही नहीं। आदमी कोई बुरा काम करता है तो छुपा के करता है, यह नहीं कि बेहाई पर कमर बाँध ले।

झिनकू—भाई, पीठ पीछे कोऊ की बुराई न करै चाही। और जौन कुछ होय पर आदमी बड़ा अकबाली हौ। इतने आदमियन के बीच माँ कैसा घुसत चला गवा।

रामबली—यह कोई अकबाल नहीं है। थानेदार न होता तो आटेदाल का भाव मालूम हो जाता।

बेचन—मुझे तो कोई पचास रुपये देता तो भी गली में पैर न रख सकता। शर्म से सिर ही नहीं उठता था।

ईदू—इनके साथ आकर आज बड़ी मुसीबत में फँस गया। मौलाना जहाँ देखेंगे वहीं आड़े हाथों लेंगे। दीन के खिलाफ़ ऐसा काम क्यों करें कि शरमिन्दा होना पड़े। मैं तो आज मारे शर्म के गड़ गया। आज से तोबा करता हूँ। अब इसकी तरफ़ आँख उठाकर भी नहीं देखूँगा।

रामबली—शराबियों की तोबा कच्चे धागे से मजबूत नहीं होती।

ईदू—अगर फिर कभी मुझे पीते देखना तो मुँह में कालिख लगा देना।

बेचन—अच्छा तो इसी बात पर आज से मैं भी इसे छोड़ता हूँ। अब पीऊँ तो गऊ-रक्त बराबर।

झिनकू—तो का हम ही सबसे पापी हन। फिर कभू जो हमका पियत देख्यो बैठाय के पचास जूता लगायो।

रामबली—अरे जा, अभी मुन्शी जी बुलायेंगे तो कुत्ते की तरह दौड़ते हुए जाओगे।

झिनकू—मुन्शी जी के साथ बैठे देख्यो तो सौ जूता लगायो, जिसके बात में फरक है उसके बाप में फरक है।

रामबली—तो भाई मैं भी कसम खाता हूँ कि आज से गाँठ के पैसे निकाल कर न पीऊँगा। हाँ, मुफ्त की पीने में इन्कार नहीं।

बेचन—गाँठ के पैसे तुमने कभी खर्च किये हैं?

इतने में मुन्शी मैकूलाल लपके हुए आते दिखाई दिये। यद्यपि वह बाजी मारकर आये थे पर मुख पर विजय-गर्व की जगह खिसियानापन छाया हुआ था। किसी अव्यक्त कारणवश वह इस विजय का हार्दिक आनन्द न उठा सकते थे। हृदय के किसी कोने में छिपी हुई लज्जा उन्हें चुटकियाँ ले रही थी। वह स्वयं अज्ञात थे पर उस दुस्साहस का खेद उन्हें व्यथित कर रहा था।

रामबली ने कहा—आइए मुख्तार साहब, बड़ी देर लगायी।

मुन्शी—तुम सब-के-सब गावदी ही निकले, एक साधू के चकमे में आ गये।

रामबली—इन लोगों ने तो आज से शराब पीने की कसम खा ली है।

मुन्शी—ऐसा तो मैंने मर्द ही नहीं देखा जो कि एक बार इसके चंगुल में फँसकर फिर निकल जाय। मुँह से बकना दूसरी बात है।

ईदू—जिन्दगानी रही तो देख लीजिएगा।

झिनकू—दाना-पानी तो कोऊ से नाहीं छूट सकत है और बातन का जब मनमा आवे छोड़ देब। बस चोट लग जाय का चाही, नसा खाये बिना कोऊ मर नाहींजात है।

मुन्शी—देखूँगा तुम्हारी बहादुरी भी।

बेचन—देखना क्या है, छोड़ देना कोई बड़ी बात नहीं। यही न होगा कि दो-चार दिन जी सुस्त रहेगा। लड़ाई में अँगरेजों ने छोड़ दिया था जो इसे पानी की तरह पीते हैं तो हमारे लिए कोई मुश्किल काम नहीं।

यही बातें करते हुए लोग मुख्तार साहब के मकान पर आ पहुँचे।

(५)

दीवानखाने में सन्नाटा था। मुवक्किल चले गए थे। अलगू पड़ा सो रहा था। मुन्शीजी मसनद पर जा बैठे और अलमारी से गिलास निकालने लगे। उन्हें अभी तक अपने साथियों की प्रतिज्ञा पर विश्वास न आता था। उन्हें पूरा यकीन था कि शराब की सुगन्ध और लालिमा देखते ही सभों की तोबा टूट जायगी। जहाँ मैंने जरा बढ़ावा दिया वहीं सब-के-सब आकर डट जायेंगे और महफिल जम जायगी। जब ईदू सलाम करके चलने लगा और झिनकू ने अपना डंडा सँभाला तो मुंशीजी ने दोनों के हाथ पकड़ लिए और बड़े मृदुल शब्दों में बोले—यारो, यों साथ छोड़ना अच्छा नही। आओ जरा आज इसका मजा तो चखो, खास तौर पर अच्छी है।

ईदू—अब तो बात ठान ली, वह ठान ली।

मुन्शी—अजी आओ तो, इन बातों में क्या धरा है?

ईदू—आप ही को मुबारक रहे, मुझे जाने दीजिए।

झिनकू—हम तो भगवान् चाही तो एके नियरे न जाब; जूते कौन खाय।

यह कहकर दोनों अपने-अपने हाथ छुड़ा कर चले गये। तब मुख्तार साहब ने बेचन का हाथ पकड़ा जो बरामदे से नीचे उतर रहा था। बोले—बेचन, क्या तुम भी बेवफाई करोगे?

बेचन—मैंने तो बड़ी कसम खाई है। जब एक बार इसे गऊ-रक्त कह चुका तो फिर इसकी ओर ताक भी नहीं सकता। कितना ही गया-बीता हूँ तो क्या गऊ-रक्त की लाज भी न रखूँगा? अब आप भी छोड़िए, कुछ दिन राम-राम कीजिए। बहुत दिन तो पीते हो गए।

यह कहकर वह भी सलाम करके चलता हुआ। अब अकेले रामबली रह गया। मुन्शीजी ने उससे शोकातुर होकर कहा—देखो रामबली, इन सभों की बेवफाई। यह लोग ऐसे ढुलमुल होंगे मैं न

जानता था। आओ आज हमीं तुम सही। दो सच्चे दोस्त ऐसे दरजनों कच्चलोहियों से अच्छे हैं। आओ, बैठ जाओ।

रामबली—मैं तो हाजिर ही हूँ लेकिन मैंने भी कसम खाई है कि कभी गाँठ के पैसे खर्च करके न पिऊँगा।

मुन्शी—अजी जब तक मेरे दम में दम है तुम जितना चाहो पियो, गम क्या है ?

रामबली—लेकिन आप न रहे तब ? ऐसा सज्जन फिर कहाँ पाऊँगा ?

मुन्शी—अजी तब देखी जायगी। मैं आज मरा थोड़े ही जाता हूँ।

रामबली—जिन्दगी का कोई ऐतबार नहीं। आप मुझसे पहले जरूर ही मरेंगे। तो उस वक्त मुझे कौन रोज पिलायेगा ? तब तो छोड़ भी न सकूँगा। इससे बेहतर यही है कि अभी से फिक्र करूँ।

मुन्शी—यार, ऐसी बातें करके दिल न छोटा करो। आओ बैठ जाओ, एक ही गिलास ले लेना।

रामबली—मुख्तार साहब, मुझे अब ज्यादा मजबूर न कीजिए। जब ईदू और झिनकू जैसे लतियों ने कसम खा ली जो औरतों के गहने बेच-बेच पी गये और निरे मूर्ख हैं, तो मैं इतना निर्लज्ज नहीं हूँ कि इसका गुलाम बना रहूँ। स्वामीजी ने मेरा सर्वनाश होने से बचाया है। उनकी आज्ञा मैं किसी तरह नहीं टाल सकता। यह कहकर रामबली भी बिदा हो गया।

(६)

मुन्शीजी ने प्याला मुँह से लगाया, लेकिन दूसरा प्याला भरने के पहले उनकी मद्यातुरता गायब हो गयी थी। जीवन में यह पहला अवसर था कि उन्हें एकान्त में बैठकर दवा की भाँति शराब पीनी पड़ी। पहले तो सहवासियों पर झुँझलाये। दगाबाजों को मैंने सैकड़ों

रुपये खिला दिये होंगे, लेकिन आज जरा-सी बात पर सब-के-सब फिरण्ट हो गये। अब मैं भूत की भाँति अकेला पड़ा हुआ हूँ; कोई हँसने-बोलने वाले नहीं। यह तो सोहबत की चीज़ है, जब सोहबत का आनन्द ही न रहा तो पीकर खाट पर पड़ रहने से क्या फायदा ?

मेरा आज कितना अपमान हुआ ? जब मैं घुसा हूँ तो सैंकड़ों ही आदमी मेरी ओर आग्नेय दृष्टि से ताक रहे थे। शराब लेकर लौटा हूँ तब तो लोगों का वश चलता तो मेरी बोटियाँ नोच खाते। थानेदार न होता तो घर तक आना मुश्किल था। यह अपमान और लोकनिन्दा किस लिए ? इसलिए कि घड़ी-भर बैठकर मुँह कड़वा करूँ और कलेजा जलाऊँ ? कोई हँसी-चुहल करने वाला तक नहीं।

लोग इसे कितनी त्याज्य वस्तु समझते हैं, इसका अनुभव मुझे आज ही हुआ, नहीं तो एक संन्यासी के ज़रा से इशारे पर बरसों के लती पियक्कड़ यों मेरी अवहेलना न करते। बात सही है कि अन्तःकरण से सभी इसे निषिद्ध समझते हैं। जब मेरे साथ के ग्वाले, एक्केवान और कहार तक इसे त्याग सकते हैं तो क्या मैं उनसे भी गया-गुजरा हूँ ? इतना अपमान सहकर, जनता की निगाह में पतित होकर, सारे शहर में बदनाम होकर, नक्कू बनकर एक क्षण के लिए सिर में सरूर पैदा कर लिया तो क्या बड़ा काम किया ? कुवासना के लिए आत्मा को इतना नीचे गिराना क्या अच्छी बात है ? यह चारों इस घड़ी मेरी निन्दा कर रहे होंगे; मुझे दुष्ट बना रहे होंगे, मुझे नीच समझ रहे होंगे। इन नीचों की दृष्टि में मैं नीचा हो गया। यह दुर्व्यवस्था नहीं सही जाती। आज इस वासना का अन्त कर दूँगा। अपमान का अन्त कर दूँगा।

एक क्षण में धड़ाके की आवाज हुई। अलगू चौंककर उठा तो देखा कि मुन्शीजी बरामदे में खड़े हैं और बोतल जमीन पर टूटी पड़ी है।

पान वाली

श्री चतुरसेन शास्त्री

(जन्म—१८८८, मृत्यु—१९६० ई०)

[जीवन परिचय—आचार्य चतुरसेन शास्त्री का देहान्त इसी वर्ष सन् १९६० में हुआ है। आप हिन्दी के सबसे वयोवृद्ध एवं पुराने लेखकों में से थे। आपका साहित्यिक जीवन बहुत ही समृद्ध रहा है। आपने सौ से अधिक ग्रन्थों की रचना की जिनमें वैशाली की नगर वधू, नरमेध, हृदय की प्यास, हृदय की परख, अपराजिता, वयंरक्षामः आदि प्रसिद्ध उपन्यास है तथा सोने की पत्नी, नवाब ननकू, कैदी और दुखवा मैं कासो कहूँ मोर सजनी आदि प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय कहानी संग्रह है। इसके अतिरिक्त आपने इतिहास, राजनीति एवं चिकित्साशास्त्र आदि पर भी ग्रन्थ लिखे हैं।

आचार्य चतुरसेन गद्य-शैली के मंजे हुए लेखक थे। आपकी कहानियों की सर्वप्रमुख विशेषता भाषा का मुहावरेदार प्रयोग है। सुन्दर भाषा शैली तथा कथोपकथन की सृष्टि की दृष्टि से आपको पर्याप्त सफलता मिली है, परन्तु विषय-वस्तु की दृष्टि से आप उदात्तता का समावेश नहीं कर पाये। जिन कहानियों में इन्होंने उदात्त विषय एवं शृंगारी भावों को ग्रहण किया है वे निसन्देह कला की दृष्टि से बहुत सुन्दर एवं सफल बन पड़ी हैं। हिन्दी कथा-साहित्य में गुण तथा परिमाण दोनों की दृष्टि से आपका व्यक्तित्व महत्त्वपूर्ण है।]

(१)

लखनऊ के अमीनाबाद पार्क मे इस समय जहाँ घंटाघर है, वहाँ अब से ७० वर्ष पूर्व एक छोटी-सी टूटी हुई मस्जिद थी, जो

भूतोंवाली मस्जिद कहलाती थी, और अब जहाँ गंगा-पुस्तक-माला की आलीशान दूकान है, वहाँ एक छोटा-सा एकमंजिला घर था। चारों तरफ न आज की-सी बहार थी, न बिजली की चमक, न बढ़िया सड़कें, न मोटर, न मेमसाहिबाओं का इतना जमघट।

लखनऊ के आखिरी बादशाह प्रसिद्ध वाजिदअली की अमलदारी थी। ऐयाशी और ठाट-बाट के दौर-दौरे थे। मगर इस मुहल्ले में रौनक न थी। उस घर में एक टूटी-सी कोठरी में एक बुढ़िया मनहूस सूरत, सन के समान बालों को बिखेरे, बैठी किसी की प्रतीक्षा कर रही थी। घर में एक दिया धीमी आभा से टिमटिमा रहा था। रात के दस बज गये थे। जाड़े के दिन थे, सभी लोग अपने-अपने घरों में रजाइयों में मुँह लपेटे पड़े थे। गली और सड़क पर सन्नाटा था।

धीरे-धीरे बढ़िया वस्त्रों में आच्छादित एक पालकी इस टूटे घर के द्वार पर चुपचाप रुकी और काले वस्त्रों से आच्छादित एक स्त्री-मूर्ति ने बाहर निकलकर धीरे-से द्वार पर थपकी दी। तत्काल द्वार खुला, और स्त्री ने घर में प्रवेश किया।

बुढ़िया ने कहा—"खैर तो है ?"

"सब ठीक है, क्या मौलवी साहब मौके पर मौजूद हैं ?"

"कब के इन्तजार कर रहे हैं, कुछ ज्यादा जाँफ़िशानी तो नहीं करनी पड़ी ?"

"जाँफ़िशानी ? बेखुश, जान पर खेल कर लाई हूँ, करती भी क्या ? गर्दन थोड़े ही उतरवानी थी।"

"होश में तो है ?"

"अभी बेहोश है। किसी तरह राजी न होती थी। मजबूरन यह किया गया।"

'तब चलें।"

बुढ़िया उठी। दोनों पालकी में जा बैठीं। पालकी संकेत पर चलकर मस्जिद की सीढ़ियाँ चढ़ती हुई भीतर चली गई।

(२)

मस्जिद में सन्नाटा और अन्धकार था, मानो वहाँ कोई जीवित पुरुष नहीं है। पालकी के आरोहियों को इसकी परवाह न थी। वे पालकी को सीधे मस्जिद के भीतर कक्ष में ले गये। यहाँ पालकी रक्खी। बुढ़िया ने बाहर आकर एक कोठरी में प्रवेश किया। वहाँ एक आदमी सिर से पैर तक चादर ओढ़े सो रहा था। बुढ़िया ने कहा—"उठिये मौलवी साहब, मुरदों का तावीज इनायत कीजिए। क्या अभी बुखार नहीं उतरा?"

"अभी तो चढ़ा ही है"—कहकर मौलवी साहब उठ बैठे। बुढ़िया ने कुछ कान में कहा, मौलवी साहब सफेद दाढ़ी हिलाकर बोले—"समझ गया, कुछ खटका नहीं है। हैदर खोजा मौके पर रोशनी लिए हाजिर मिलेगा। मगर तुम लोग बेहोशी की हालत में किस तरह—"

"आप बेफिक्र रहें। बस सुरंग की चाबी इनायत करें।"

मौलवी साहब ने उठकर मस्जिद की बायीं ओर के चबूतरों के पीछे वाले भाग में जाकर एक कब्र का पत्थर किसी तरकीब से हटा दिया। वहाँ सीढ़ियाँ निकल आईं। बुढ़िया उसी तंग तहखाने के रास्ते उसी काले वस्त्र से आच्छादित लम्बी स्त्री के सहारे एक बेहोश स्त्री को नीचे उतारने लगी। उनके चले जाने पर मौलवी साहब ने गौर से इधर-उधर देखा, और फिर किसी गुप्त तरकीब से तहखाने का द्वार बन्द कर दिया। तहखाना फिर कब्र बन गया।

(३)

उन हजारों फ़ानूसों में कसूमा बत्तियाँ जल रही थीं और कमरे की दीवार गुलाबी साटन के परदों से छिप रही थी। फ़र्श पर ईरानी

कालीन बिछा था, जिस पर निहायत नफ़ीस और खुशरंग काम बना हुआ था। कमरा खूब लम्बा-चौड़ा था। उसमें तरह-तरह के ताज़े फूलों के गुलदस्ते सजे हुए थे और हिना की तेज़ महक से कमरा महक रहा था। कमरे के एक बाजू में मखमल का बालिश्त भर ऊँचा एकगद्दा बिछा था, जिस पर कारचोबी का उमरा हुआ बहुत ही खुशनुमा काम था। उस पर एक बड़ी सी मसनद लगी थी, जिस पर चार सुनहरे खम्भों पर मोती की झालर का चन्दोवा तना था।

मसनद पर एक बलिष्ठ पुरुष उत्सुकता से किन्तु अलसाया बैठा था। इसके वस्त्र अस्त-व्यस्त थे। इसका मोती के समान उज्ज्वल रंग, कामदेव को मात करने वाला प्रदीप्त सौंदर्य, झब्बेदार मूछें, रस-भरी आँखें और मदिरा-प्रस्फुटित होंठ कुछ और ही समाँ बाँध रहे थे। सामने पानदान में सुनहरी गिलोरियाँ भरी थीं। इत्रदान में शीशियाँ लुढ़क रही थीं। शराब की प्याली और सुराही क्षण-क्षण पर खाली हो रही थी। वह सुगन्धित मदिरा मानो उसके उज्ज्वल रंग पर सुनहरी निखार ला रही थी। उसके कंठ में पन्ने का एक बड़ा-सा कण्ठा पड़ा था और उँगलियों में हीरे की अँगूठियाँ बिजली की तरह दमक रही थीं। यही लाखों में दर्शनीय पुरुष लखनऊ के प्रख्यात नवाब वाजिदअली शाह थे!

कमरे में कोई न था। वह बड़ी आतुरता से किसी की प्रतीक्षा कर रहे थे। वह आतुरता क्षण-क्षण पर बढ़ रही थी। एकाएक एक खटका हुआ। बादशाह ने ताली बजाई और वही लम्बी स्त्री मूर्ति सिर से पैर तक काले वस्त्रों से शरीर को लपेटे मानो दीवार फाड़ कर आ उपस्थित हुई।

"ओह मेरी गबरू! तुमने तो इन्तजार ही में मार डाला। क्या गिलौरियाँ लाई हो?"

"मैं हुजूर पर कुर्बान!" इतना कहकर उसने वह काला लबादा

उतार डाला। उफ़ गजब ! उस काले आवेष्ट में मानो सूर्य का तेज छिपा था। कमरा चमक उठा। बहुत बढ़िया चमकीले विलायती साटन का पोशाक पहने एक सौंदर्य की प्रतिमा इस तरह निकल आई, जैसे राख के ढेर में से अंगार। इस अग्निष्ठ सौंदर्य की रूप-रेखा कैसे बयान की जाय ? इस अंग्रेजी राज्य और अंग्रेजी सभ्यता में, जहाँ क्षणभर चमक कर बादलों में बिलीन हो जाने वाली बिजली, सड़क पर अयाचित ढेरों पर प्रकाश बखेरती रही है, तब इस रूप-ज्वाला की उपमा कहाँ ढूँढ़ी जाय ? उस अंधकारमय रात्रि में यदि उसे खड़ा कर दिया जाय तो वह कसौटी पर स्वर्ण-रेखा की तरह दीप्त हो उठे और यदि वह दिन के उज्ज्वल प्रकाश में खड़ी कर दी जाय, तो उसे देखने का साहस कौन करे ? किन आँखों में इतना तेज है ?

उस सुगन्धित और मधुर रात्रि में मदिरा-रंजित नेत्रों से वाजिदअली की वासना उस रूप-ज्वाला को देखते ही भड़क उठी। उन्होंने कहा—"रूपा जरा नजदीक आओ। एक प्याला शीराजी और पानी लगाई हुई अंबरी पान की बिड़ियाँ दो तो। तुमने तो तरसा-तरसाकर मार डाला।"

रूपा आगे बढ़ी, सुराही से शराब उँड़ेली और जमीन में घुटने टेककर आगे बढ़ा दी, इसके बाद उसने चार सोने के वर्क-लपेटी बिड़ियाँ निकालकर बादशाह के सामने पेश कीं और दस्त-बस्ता अर्ज़ की—"हुजूर की खिदमत में लौंडी वह तोहफा ले आई है।"

वाजिदअली शाह की बाछें खिल गईं। उन्होंने रूपा को घूम-घूमकर कहा—"वाह ! तब तो आज···" रूपा ने संकेत किया। हैदर खोजा उस फूल सी मुरझाई कुसुम-कली को फूल की तरह हाथों पर उठाकर—पान-गिलौरी की तश्तरी की तरह—बादशाह

के रूबरू कालीन पर डाल गया। रूपा ने बाँकी अदा से कहा—"हुजूर को आदाब !" और चलदी।

(४)

एक चौदह वर्ष की, भयभीत, मूर्च्छित, असहाय, कुमारी बालिका अकस्मात् आँख खुलने पर सम्मुख शाही ठाठ से सजे हुए महल और दैत्य के समान नरपशु को पाप वासना से प्रमत्त देखकर क्या समझेगी ? कौन अब इस भयानक क्षण की कल्पना करे। वही क्षण—होश में आते ही उस बालिका के सामने आया। वह एकदम चीत्कार करके फिर बेहोश हो गई। पर इस बार शीघ्र ही उसकी मूर्च्छा दूर हो गई। एक अतर्क्य साहस, जो ऐसी अवस्था में प्रत्येक जीवित प्राणी में हो जाता है, उस बालिका के शरीर में उदय हो आया। वह सिमटकर बैठ गई, और पागल की तरह चारों तरफ एक दृष्टि डालकर एकटक उस मत्त पुरुष की ओर देखने लगी।

उस भयानक क्षण में भी उस विशाल पुरुष का सौन्दर्य और प्रभा देखकर उसे कुछ साहस हुआ। वह बोली तो नहीं, पर कुछ स्वस्थ होने लगी।

नवाब जोर से हँस दिये। उन्होंने गले का वह बहुमूल्य कण्ठा उतार कर बालिका की ओर फेंक दिया। इसके बाद वह नेत्रों के तीर निरन्तर फेंकते बैठे रहे।

बालिका ने कण्ठा देखा भी नहीं, छुआ भी नहीं, वह वैसी ही सिकुड़ी हुई, वैसी ही निर्निमेष दृष्टि से भयभीत हुई नवाब को देखती रही।

नवाब ने दस्तक दी। दो बांदियाँ दस्तबस्ता आ हाजिर हुई। नवाब ने हुक्म दिया—"इसे गुस्ल कराकर और सब्ज परी बना कर हाजिर करो।" उस पुरुष-पाषाण की अपेक्षा स्त्रियों का संसर्ग गनीमत जानकर बालिका मंत्रमुग्ध सी उठ कर उनके साथ चली गई।

इसी समय एक खोजे ने आकर अर्ज की—"खुदाबन्द ! साहब बहादुर बड़ी देर से हाजिर हैं ।"

"उनसे कह दो, अभी जच्चाखाने में हैं, अभी मुलाकात नहीं होगी ।"

"आलीजाह ! कलकत्ते से एक जल्दी........."

"मर मुए, हमारे पीर उठ रही है ।"

खोजा चला गया ।

(५)

लखनऊ के खास बाजार की बहार देखने योग्य थी । शाम हो चली और छिड़काव हो गया था । इक्कों और बहलियों, पालकियों और घोड़ों का अजीब जमघट था । आज तो उजाड़ अमीनाबाद का रंग ही कुछ और है । तब यही रौनक चौक को प्राप्त थी । बीच चौक में रूपा की पानों की दूकान थी । फानूसों और रंगीन झाड़ों से जगमगाती गुलाबी रोशनी के बीच स्वच्छ बोतल में मदिरा की तरह रूपा दूकान पर बैठी थी । दो निहायत हसीन लौंडियाँ पान की गिलौरियाँ बनाकर उसमें सोने के वर्क लपेट रही थीं । बीच-बीच में अठखेलियाँ भी कर रही थी । आजकल के कलकत्ते के कोरेंथियन थिएटर रंग-मंच पर भी ऐसा मोहक और आकर्षक दृश्य नहीं देख पड़ता जैसा उस समय रूपा की दूकान पर था । ग्राहकों की भीड़ का पार न था । रूपा खास-खास ग्राहकों का स्वागत कर पान दे रही थी । बदले में खनाखन अशर्फियों से उसकी गंगाजमुनी काम की तश्तरी भर रही थी । वे अशर्फियाँ रूपा की एक अदा, एक मुस्कराहट—केवल एक कटाक्ष का मोल थीं । पान की गिलौरियाँ तो लोगों को घातों में पड़ती थीं । एक नाजुक-अंदाज नवाबजादे तामजाम में बैठे अपने मुसाहबों और कहारों के झुरमुट के साथ आये, और रूपा की दूकान पर तामजाम रोका । रूपा ने सलाम करके कहा—"मैं सदके शाहजादा साहब, जरी बाँदी की एक गिलौरी कबूल फर्मावें ।" रूपा ने लौंडी

की तरफ इशारा किया। लौंडी सहमत हुई। सोने की एक रकाबी में ५-७ गिलौरियाँ लेकर तामजाम तक गई। शाहजादे ने मुस्कराकर दो गिलौरियाँ उठाईं, एक मुट्ठी अशर्फियाँ तश्तरी में डालकर आगे बढ़े। एक खाँ साहब बालों में मेंहदी लगाये, दिल्ली के वासली के जूते पहने, तनजेब की चपकन कसे, सिर पर लैसदार ऊँची टोपी लगाये आये। रूपा ने बड़े तपाक से कहा—"खाँ साहब! आज तो हुजूर रास्ता भूल गये! अरे कोई है, आपको बैठने की जगह दे। अरी गिलौरियाँ तो लाओ।"

खाँ साहब रूपा के रूप की तरह चुपचाप गिलौरियों के रस का घूँट पीने लगे। थोड़ी देर में एक अधेड़ मुसलमान अमीरजादे की शकल में आये। उन्हें देखते ही रूपा ने कहा—"अरे हुजूर तशरीफ ला रहे हैं। मेरे सरकार आप तो ईद के चाँद हो गये। कहिए, खैरियत है? अरी, मिर्जा साहब को गिलौरियाँ दीं?" तश्तरी में खनाखन हो रही थी, और रूपा की रूप और पान की हाट खूब गरमा रही थी। ज्यों-ज्यों अन्धकार बढ़ता जाता था, त्यों-त्यों रूपा पर रूप की दुपहरी चढ़ रही थी। धीरे-धीरे एक पहर रात बीत गई। ग्राहकों की भीड़ कुछ कम हुई। रूपा अब सिर्फ कुछ चुने हुए प्रेमी ग्राहकों से घुल-घुलकर बातें कर रही थी। धीरे-धीरे एक अजनबी आदमी दूकान पर आ कर खड़ा हो गया। रूपा ने अप्रतिभ होकर पूछा—

"आपको क्या चाहिये?"

"आपके पास क्या-क्या मिलता है?"

"बहुत-सी चीजें। क्या पान खाइयेगा?"

"क्या हर्ज है?"

रूपा के संकेत से दासी बालिका ने पान की तश्तरी अजनबी के आगे धर दी।

दो बीड़ियाँ हाथ में लेते हुए उसने कहा—"इनकी कीमत क्या है बी साहबा?"

"जो कुछ जनाब दे सकें।"

"यह बात है ! तब ठीक, जो कुछ मैं ले सका, वह लूँगा भी !" अजनबी हँसा नहीं। उसने भेदभरी दृष्टि से रूपा को देखा।

रूपा की भृकुटी जरा टेढ़ी पड़ी और वह एक बार तीव्र दृष्टि से देखकर फिर अपने मित्रों के साथ बातचीत में लग गई। पर बातचीत का रंग जमा नहीं। धीरे-धीरे मित्रगण उठ गये। रूपा ने एकान्त पाकर कहा—

"क्या हुजूर का मुझसे कोई खास काम है ?"

"मेरा तो नहीं, मगर कम्पनी बहादुर का है।"

रूपा काँप उठी। वह बोली—"कम्पनी बहादुर का क्या हुक्म है ?"

'भीतर चलो तो कहा जाय।"

"मगर माफ कीजिये—आप पर यकीन कैसे ?"

"ओह ! समझ गया। बड़े साहब की यह चीज तो तुम शायद पहचानती ही होंगी ?"

यह कह कर उन्होंने एक अँगूठी दूर से दिखा दी।

"समझ गई ! आप अन्दर तशरीफ लाइये।"

रूपा ने एक दासी को अपने स्थान पर बैठाकर अजनबी के साथ दूकान के भीतरी कक्ष में प्रवेश किया।

दोनों व्यक्तियों में क्या बातें हुईं, यह तो हम नहीं जानते, मगर उसके ठीक तीन घंटे बाद दो व्यक्ति काला लबादा ओढ़ दूकान से निकले और किनारे लगी हुई पालकी में बैठ गये। पालकी धीरे-धीरे उसी भूतोंवाली मस्जिद में पहुँची। उसी प्रकार मौलवी ने कब्र का पत्थर हटाया और एक मूर्ति ने कब्र के तहखाने में प्रवेश किया। दूसरे व्यक्ति ने एकाएक मौलवी को पटककर मुश्कें बाँध लीं और एक संकेत किया। क्षणभर में ५० सुसज्जित काली-काली मूर्तियाँ आ खड़ी

हुई और बिना एक शब्द मुंह से निकाले चुपचाप कब्र के अन्दर उतर गईं।

(६)

अब फिर चलिए अनंगदेव के उसी रंग-मन्दिर में। सुख साधनों से भरपूर वही यह कक्ष आज सजावट खतम कर गया था। सहसा उल्कापात की तरह रंगीन हाँडियाँ, बिल्लौरी फानूस और हजारों झाड़ सब जल रहे थे। तत्परता से किन्तु नीरव बाँदियाँ और गुलाम दौड़-धूप कर रहे थे। अनगिनत रमणियाँ अपने मदभरे होठों की थालियों में भाव की मदिरा उँडेल रही थीं। उन सुरीले रागों की बौछारों में बैठे बादशाह वाजिदअली शाह शराबोर हो रहे थे। उस गायनोन्माद में मालूम होता था, कमरे के जड़ पदार्थ भी मतवाले होकर नाच उठेंगे। नाचने वालियों के ठुमके और नूपुर की ध्वनि सोते हुए यौवन से ठोकर मारकर कहती थी --"उठ उठ, ओ मतवाले उठ!" उन नर्तकियों के बढ़िया निकतदोजों के सुवासित दुपट्टे से निकली हुई सुगन्धि उनके नृत्यवेग से विचलित वायु के साथ घुल-मिलकर गदर मचा रही थी। पर सामने का सुनहरी फव्वारा, जो सामने स्थिर ताल पर बीस हाथ ऊपर फेककर रंगीन जलबिन्दु राशियों से हाथापाई कर रहा था, देखकर कलेजा बिना उछले कैसे रह सकता था।

उसी मसनद पर बादशाह वाजिदअली शाह बैठे थे। एक गंगाजमुनी काम का अलबोला वहाँ रक्खा था, जिसकी खमीरी मुश्की तम्बाकू जलकर एक अनोखी सुगन्धि फैला रही थी। चारों तरफ सुन्दरियों का झुरमुट उन्हें घेरे बैठा था। सभी अधनंगी, उन्मत्त, निर्लज्ज हो रही थीं। पास ही सुराही और थालियाँ रक्खी थीं और बारी-बारी से उन दुर्बल होठों को चूम रही थीं। आधा मद पी-पीकर वे सुन्दरियाँ उन प्यालियों को बादशाह के होठों में लगा देती थीं। वह आँखें बन्द करके उसे पी जाते थे। कुछ सुन्दरियाँ पान लगा रही थीं, कुछ अलबोले की निगाली पकड़े हुई थीं। दो सुन्दरियाँ दोनों

तरफ पीकदान लिए खड़ी थीं, जिनमें बादशाह कभी-कभी पीक गिरा देते थे ।

इस उल्लसित आमोद के बीच-बीच एक मुर्झाया हुआ पुष्प कुचली हुई पान की गिलौरी—वही बालिका—बहुमूल्य हीरे-खचित वस्त्र पहने—बादशाह के बिल्कुल पास में लगभग मूर्च्छित और अस्तव्यस्त पड़ी थी। रह-रह कर शराब की प्याली उसके मुख से लग रही थी, और वह खाली कर रही थी। एक निर्जीव दुशाले की तरह बादशाह उसे अपने बदन से मानो अपनी तमाम इन्द्रियों को एक ही रस में शराबोर कर रहे थे। गम्भीर आधी रात बीत रही थी। सहसा इसी आनन्दवर्षा में बिजली गिरी। कक्ष के उसी गुप्त द्वार को विदीर्ण कर क्षणभर में वही रूपा काले आवरण से नखशिख ढके निकल आई। दूसरे क्षण में एक और मूर्ति वैसे ही आवेष्ट में बाहर निकल आई। क्षणभर बाद दोनों ने अपने आवेष्टन उतार फेंके। वही अग्निशिखा ज्वलन्त रूपा और उसके साथ गौरांग कर्नल !

नर्तकियों ने एकदम नाचना-गाना रोक दिया। बाँदियाँ शराब की प्यालियाँ लिए काठ की पुतली की तरह खड़ी-की-खड़ी रह गईं। केवल फव्वारा ज्यों-का-त्यों आनन्द से उछल रहा था। बादशाह यद्यपि बिलकुल बदहवास थे मगर यह सब देख कर वह मानों आधे उठकर बोले—"ओह ! रूपा दिलरुबा ! तुम और ऐं मेरे दोस्त कप्तान—इस वक्त यह क्या माजरा है ?"

आगे बढ़कर, और अपनी चुस्त पोशाक ठीक करते हुए तलवार की मूठ पर हाथ रख कप्तान ने कहा—"कल आलीजाह की बन्दगी में हाजिर हुआ था, मगर······"

"ओह, मगर—इस वक्त इस रास्ते से ? ऐं माजरा क्या है ? अच्छा बैठो, हाँ जोहरा एक प्याला मेरे दोस्त कर्नल के······"

"माफ करें हुजूर ! इस समय मैं एक काम से सरकार की ख़िदमत में हाजिर हुआ हूँ ।"

"काम ! वह काम क्या है ?" बैठते हुए बादशाह ने कहा ।

"मैं तखलिये में अर्ज़ किया चाहता हूँ ।"

"तख़लिये ! अच्छा, अच्छा, जोहरा ! ओ कादिर !"

धीरे-धीरे रूपा को छोड़कर सभी बाहर निकल गईं । उस सौंदर्य-स्वप्न में रह गई अकेली रूपा । रूपा को लक्ष्य करके कहा—"यह तो ग़ैर नहीं । रूपा ! दिलरुबा ! एक प्याला अपने हाथों से दो तो !" रूपा ने सुराही से शराब उंडेल लबालब प्याला भर कर बादशाह के होंठों से लगा दिया । हाय ! लखनऊ के नवाब का वही अन्तिम प्याला था । उसे बादशाह ने आँखें बन्द कर पीकर कहा—"वाह प्यारी !"

"हाँ, अब तो वह बात ! मेरे दोस्त......"

"हुजूर को ज़रा रेजिडेंसी तक चलना होगा ।"

बादशाह ने उछल कर कहा—"ऐं, यह कैसी बात ! रेजिडेंसी तक मुझे ?"

"जहाँपनाह, मैं मजबूर हूँ, काम ऐसा ही है ।"

"इसका मतलब ?"

"मैं अर्ज़ नहीं कर सकता । कल मैं यही तो अर्ज़ करने हाजिर हुआ था ।"

"ग़ैर मुमकिन ? ग़ैर मुमकिन ?" बादशाह गुस्से से होंठ काटकर उठे, और अपने हाथ से सुराही उंडेल कर ३-४ प्याले पी गये । धीरे-धीरे उसी दीवार से एक-एक करके ४० गोरे संगीनें और किर्चें सजाए कक्ष में घुस आये ।

बादशाह देखकर बोले—"खुदा की कसम, यह तो दग़ा है ! कादिर ।"

"जहाँपनाह, अगर खुशी से मेरी अर्ज कबूल न करेंगे, तो खूनखराबी होगी। कम्पनी बहादुर के गोरों ने महल घेर लिया है। अर्ज यही है कि सरकार चुपचाप चले चलें।"

बादशाह धम से बैठ गये। मालूम होता है, क्षणभर के लिए उनका नशा उतर गया। उन्होंने कहा—"तुम तब क्या मेरे दुश्मन होकर मुझे कैद करने आये हो?"

"मैं हुजूर का दोस्त हूँ, हर तरह हुजूर के आराम और फरहत का ख्याल रखता हूँ, और हमेशा रखूँगा।"

बादशाह ने रूपा की ओर देखकर कहा—"रूपा! रूपा! यह क्या माजरा है। तुम भी क्या इस मामले में हो? एक प्याला—मगर नहीं, अब नहीं। अच्छा—सब साफ-साफ सच कहो! कर्नल मेरे दोस्त······नहीं, नहीं अच्छा कर्नल! सब खुलासावार बयान करो।"

"सरकार, ज्यादा मैं कुछ नहीं कह सकता। कम्पनी बहादुर का खास परवाना लेकर खुद लाट साहब तशरीफ लाए हैं और आलीजाह से कुछ मशविरा किया चाहते हैं।"

"मगर यहाँ? यह नामुमकिन है।"

बादशाह ने कर्नल की तरफ देखा। वह तना खड़ा था और उसका हाथ तलवार की मूठ पर था।

"समझ गया, सब समझ गया।" यह कहकर बादशाह कुछ देर हाथों से आँखें ढाँपकर बैठ गये। कदाचित् उनकी सुन्दर रस-भरी आँखों में आँसू भर आये हों।

रूपा ने पास आकर कहा—"मेरे खुदावन्द बाँदी······"

"हट जा, ऐ नमकहराम, ज़लील, बाज़ारू औरत?"

बादशाह ने यह कहकर एक ठोकर लगाई, और कहा—"तब चलो? मैं चलता हूँ खुदा हाफिज।"

पहले बादशाह, पीछे कप्तान, उसके पीछे रूपा, और सब के अन्त में एक-एक करके सिपाही उसी दरार में विलीन हो गये। महल में किसी को कुछ मालूम न था। वह मूर्तिमान संगीत—वह उमड़ता हुआ आनन्द-समुद्र सदा के लिये मानो किसी जादूगर ने निर्जीव कर दिया।

(७)

कलकत्ते के एक उजाड़ से भाग में, एक बहुत विशाल मकान में वाजिदअली शाह नजरबन्द थे। ठाठ लगभग वही था। सैंकड़ों दासियाँ, बाँदियाँ और वेश्याएँ भरी हुई थीं, पर वह रंग कहाँ?

खाना खाने का वक्त हुआ, और जब दस्तरखान पर खाना चुना गया, तो बादशाह ने चख-चखकर फेंक दिया। अंगरेज अफसर ने घबड़ाकर पूछा—"खाने में क्या नुक्स है?"

जवाब दिया गया—'नमक खराब है।"

"नवाब कैसा नमक खाते हैं?"

"एक मन का डला रखकर उस पर पानी की धार छोड़ी जाती है। जब घुलते-घुलते छोटा-सा टुकड़ा रह जाता है तब बादशाह के खाने मे वह नमक इस्तेमाल होता है।"

अंगरेज अधिकारी मुस्कराता चला गया। क्यो? ओह! हम लोगों के समझने के योग्य वह भेद नहीं।

उसी रस रंग की दीवारों के भीतर अब सरकारी दफ्तर खुल गये हैं, और वह अमर कैसर बाग मानो रंडुए की तरह खड़ा उस नशीली रात की याद में सिर धुन रहा है।

दो बाँके

श्री भगवती चरण वर्मा

[जीवन परिचय -वर्मा जी का जन्म सन् १९०३ में शफीपुर गाँव, जिला उन्नाव में हुआ। बचपन में ही आपके पिता का देहान्त हो गया। अतः आपका पालन पोषण आपकी माता के हाथों ही हुआ। उन्होंने इन्हें बी० ए०, एल० एल० बी० की परीक्षायें पास करा कर पिता के अनुरूप वकील बनाया। विद्यार्थी जीवन में ही आपका ध्यान हिन्दी की ओर आकर्षित हुआ। १४ वर्ष की अवस्था में ही आपकी कुछ कविताएँ 'प्रताप' पत्रिका में प्रकाशित हुईं। सन् १९२१ में आपकी पहली कहानी 'हिन्दी मनोरंजन' में छपी परन्तु इस बीच में आपकी रुचि कविता लिखने की ओर अधिक थी। हिन्दी के कुछ प्रतिष्ठित विद्वानों से प्रोत्साहन प्राप्त कर आप कविता लिखते रहे और थोड़े ही समय में हिन्दी के लब्ध प्रतिष्ठित कवियों में आपकी गणना होने लगी। सन् १९३१ में आप पुनः कहानियाँ लिखने में प्रवृत्त हुए। इस क्षेत्र में भी आपकी प्रतिभा चमक उठी और शीघ्र ही कहानी-लेखकों में इन्होंने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया। आप एक सफल उपन्यास-लेखक भी हैं। पतन, चित्रलेखा, तीन वर्ष, टेढ़े-मेढ़े रास्ते, अंतिम दाँव' आदि इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। कहानी संग्रहों में इन्सटालमेन्ट, दो बाँके, हमारी उलझन आदि लोकप्रिय हैं।

वर्मा जी की कहानियों में समाज की आन्तरिक समस्याओं का चित्रण बड़ी ही कुशलता से हुआ है। आपकी वर्णनशैली में प्रेमचन्द जैसी सजीवता एवं सशक्तता है। दूसरी ओर ऐतिहासिक सत्य की व्यंजना भी नवीन प्रणाली से हुई है। कथा वस्तु प्रायः विनोदपूर्ण होती है।

'प्रायश्चित, उत्तरदायित्व, दो बाँके, एक शाम, मुगलों ने सल्तनत बख्शी' आदि प्रसिद्ध कहानियाँ हैं ।

वर्मा जी की अधिकांश कहानियाँ मानवजीवन की गम्भीर स्थितियों और उलझी हुई परिस्थितियों को लेकर चलती हैं । आपकी रचनाशैली पर अंग्रेजी कलाकारों की लेखन-शैली का प्रभाव है । कथावस्तु, वातावरण तथा कथोपकथन द्वारा आकर्षक बन पड़ी है । विस्मय तथा कौतूहल का तत्त्व यथास्थान उद्‌भूत होता है । उक्ति-वैचित्र्य इनकी निजी विशेषता है । भाषा बड़ी रोचक, भावपूर्ण तथा मार्मिक है ।

वर्मा जी प्रगतिशील लेखक हैं । उपन्यास तथा कहानी लेखन के क्षेत्र में आप निरन्तर बढ़ते जा रहे हैं । आपकी नवीनतम रचनायें कला तथा टेकनीक की दृष्टि से बहुत उच्चकोटि की हैं । आप कला का निर्माण मानवता के व्यापक धरातल पर ही करते हैं ।]

शायद ही कोई ऐसा अभागा हो जिसने लखनऊ का नाम न सुना हो; और संयुक्तप्रांत में ही नहीं बल्कि सारे हिन्दुस्तान में, और मैं तो यहाँ तक कहने को तैयार हूँ कि सारी दुनिया में लखनऊ की शोहरत है । लखनऊ के सफेदा आम, लखनऊ के खरबूजे, लखनऊ की रेवड़ियाँ; ये सब ऐसी चीजें हैं जिन्हें लखनऊ से लौटते समय लोग सौगात के तौर पर साथ ले जाया करते हैं, लेकिन कुछ ऐसी भी चीजें हैं जो साथ नहीं ले जाई जा सकतीं, और उनमें लखनऊ की ज़िन्दादिली और लखनऊ की नफ़ासत विशेष रूप से आती हैं ।

ये तो वे चीजें हैं जिन्हें देसी और परदेसी सभी जान सकते हैं, पर कुछ ऐसी भी चीजें हैं जिन्हें कुछ लखनऊ वाले तक नहीं जानते, और अगर परदेसियों को इनका पता लग जाय तो समझिये कि उन परदेसियों के भाग खुल गए । इन्हीं विशेष चीजों में आते हैं लखनऊ के "बाँके" ।

'बाँके' शब्द हिन्दी का है या उर्दू का, यह विवादग्रस्त विषय हो सकता है, और हिन्दी वालों का कहना है—इन हिन्दी वालों में मैं भी हूँ—कि यह शब्द संस्कृत के 'बंकिम' शब्द से निकला है। पर यह मानना पड़ेगा कि जहाँ 'बंकिम' शब्द में कुछ गम्भीरता है, कभी-कभी कुछ तीखापन झलकने लगता है, वहाँ 'बाँके' शब्द में एक अजीब बाँकापन है। अगर जवान बाँका-तिरछा न हुआ तो आप निश्चय समझ लें कि उसकी जवानी की कोई सार्थकता नहीं; अगर चितवन बाँकी नहीं तो आँख का फोड़ लेना अच्छा है; बाँकी अदा और बाँकी झाँकी के बिना जिन्दगी सूनी हो जाय। मेरे खयाल से अगर दुनिया से बाँका शब्द उड़ जाय तो कुछ दिलचले लोग खुद-कुशी करने पर आमादा हो जायँगे। और इसीलिये मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि लखनऊ बाँका शहर है, और इस बाँके शहर में कुछ बाँके रहते हैं जिनमें ग़ज़ब का बाँकापन है। यहाँ पर आप लोग शायद झल्लाकर यह पूछेंगे—'म्याँ यह 'बाँके' है क्या बला? कहते क्यों नहीं?' और मैं उत्तर दूँगा कि आप में सब्र नहीं; अगर इन बाँकों की एक बाँकी भूमिका नहीं हुई तो फिर कहानी किस तरह बाँकी हो सकती है!

हाँ; तो लखनऊ शहर में रईस हैं। तवायफें हैं और इन दोनों के साथ शोहदे भी हैं। बक़ौल लखनऊ वालों के, ये शोहदे ऐसे-वैसे नहीं हैं। ये लखनऊ की नाक हैं! लखनऊ की सारी बहादुरी के ये ठेकेदार हैं और ये जान ले लेने तथा जान दे देने पर आमादा रहते हैं। अगर लखनऊ से ये शोहदे हटा दिये जायँ तो लोगों का यह कहना "अजी लखनऊ तो जनानों का शहर है।" सोलह आने सच्चा उतर जाय।

जनाब, इन्हीं शोहदों के सरगनों को लखनऊ वाले 'बाँके' कहते हैं। शाम के वक्त तहमत पहने हुए और कसरती बदन पर जालीदार बनियाइन पहन कर उसके ऊपर बूटेदार चिकन का कुरता डाटे हुए जब ये निकलते हैं तब लोग-बाग बड़ी हसरत की

निगाहों से उन्हें देखते हैं। उस वक्त इनके पट्टेदार बालों में करीब आध पाव चमेली का तेल पड़ा रहता है, कान में इत्र की अनगिनती फुरहरियाँ खुँसी रहती हैं और एक बेले का गजरा गले में तथा एक हाथ की कलाई पर रहता है। फिर ये अकेले भी नहीं निकलते, इनके साथ शागिर्द शोहदों का जलूस रहता है, एक से एक बोलियाँ बोलते हुए, फबतियाँ कसते हुए और शेखियाँ हाँकते हुए, उन्हें देखने के लिए एक हजूम उमड़ पड़ता है।

तो उस दिन मुझे अमीनाबाद से नख्खास जाना था। पास में पैसे कम थे, इसलिए जब एक नवाब साहेब ने आवाज़ दी, 'नख्खास' तो मैं उचक कर उनके इक्के पर बैठ गया। यहाँ यह बतला देना बेजा न होगा कि लखनऊ के इक्के वालों में तीन चौथाई शाही खानदान के हैं और यह उनकी बदकिस्मती है कि उनका वसीका बन्द या कम कर दिया गया, और उन्हें इक्का हाँकना पड़ रहा है।

इक्का नख्खास की तरफ चला और मैंने मियाँ इक्के वाले से कहा, "कहिए नवाब साहेब! खाने-पीने भर को तो पैदा कर लेते हैं?"

इस सवाल का पूछा जाना था कि नवाब साहेब के उद्‌गारों के बाँध का टूट पड़ना था। बड़े करुण-स्वर में बोले—"क्या बतलाऊँ हुज़ूर, अपनी क्या हालत है, कह नहीं सकता! खुदा जो कुछ दिखलाएगा, देखूँगा! एक दिन थे जब हम लोगों के बुजुर्ग हुकूमत करते थे। ऐशो-आराम की ज़िन्दगी बसर करते थे। लेकिन आज हमें—उन्हीं की औलाद को—भूखों मरने की नौबत आ गई। और हुज़ूर इस पेशे में कुछ रह नहीं गया। पहले तो तांगे चले, जी को समझाया-बुझाया 'म्याँ, अपनी-अपनी किस्मत! मैं भी तांगा ले लूँगा, यह तो वक्त की बात है, मुझे भी फ़ायदा होगा। लेकिन क्या बतलाऊँ हुज़ूर, हालत दिनों-दिन बिगड़ती ही गई। अब देखिये

मोटरों पर मोटरें चल रही हैं। भला बतलाइये हुजूर जो सुख इक्के की सवारी में है वह भला ताँगे या मोटर में मिलने का? ताँगे में पलथी मार कर आराम से बैठ नहीं सकते। जाते उत्तर की तरफ़ हैं, मुँह दक्खिन की तरफ़ रहता है। अजी साहेब, हिन्दुओं में मुरदा उलटे सिर ले जाया जाता है, लेकिन ताँगे में लोग जिन्दा ही उलटे सिर चलते हैं; और ज़रा ग़ोर फरमाइये! ये मोटर शैतान की तरह चलती है; जहाँ जाती है वह बला की धूल उड़ाती है कि इंसान अंधा हो जाय। मैं तो कहता हूँ कि बिना जानवर के आप चलने वाली सवारी से दूर ही रहना चाहिए, उसमें शैतान का फेर है।"

इक्के वाले नवाब और न जाने क्या-क्या कहते, अगर वह 'या अली!' के नारे से चौंक न उठते।

सामने क्या देखते हैं कि एक आलम उमड़ा पड़ रहा है। इक्का रक़ाबगंज के पुल के पास पहुँचकर रुक गया।

एक अजीब समाँ था। रक़ाबगंज के पुल के दोनों तरफ करीब पन्द्रह हजार की भीड़ थी, लेकिन पुल पर एक आदमी नहीं। पुल के एक किनारे पर करीब पच्चीस शोहदे लाठी लिए हुए खड़े थे, और दूसरे किनारे भी उतने ही। एक ख़ास बात और थी कि पुल के एक सिरे पर सड़क के बीचोंबीच एक चारपाई रक्खी थी और दूसरे सिरे पर भी सड़क के बीचोंबीच दूसरी। बीच-बीच में रुक-रुककर दोनों ओर से 'या अली!' के नारे लगते थे।

मैंने इक्के वाले से पूछा, "क्यों म्याँ, क्या मामला है?"

म्याँ इक्के वाले ने तमाशाई से पूछ कर बतलाया, "हुजूर आज दो बाँकों में लड़ाई होने वाली है, उसी लड़ाई को देखने के लिए यह भीड़ इकट्ठी है!"

मैंने फिर पूछा, "यह क्यों?"

म्याँ इक्के वाले ने जवाब दिया, "हुजूर, पुल के इस पार के शोहदों का सरग़ना एक बाँका है और उस पार के शोहदों का सरग़ना

दूसरा बाँका। कल इस पार के शोहदे से पुल के उस पार के दूसरे शोहदे का कुछ झगड़ा हो गया और उस झगड़े में कुछ मार पीट हो गई। इस फ़िसाद पर दोनों बाँकों में कुछ कहा-सुनी हुई, और उस कहा-सुनी में ही मैदान बद दिया गया।"

चुप होकर मैं उधर देखने लगा। एकाएक मैंने पूछा, "लेकिन ये चारपाइयाँ क्यों आई हैं ?"

"अरे हुज़ूर ! इन बाँकों की लड़ाई कोई ऐसी-वैसी थोड़ी ही होगी, इनमें खून बहेगा और लड़ाई तब तक खत्म न होगी जब तक एक बाँका खत्म न हो जाय। आज तो एक-आध लाश गिरेगी। ये चारपाइयाँ उन बाँकों की लाश उठाने आई हैं। दोनों बाँके अपनी बीबी-बच्चों से रुख़सत लेकर और कर्बला के लिए तैयार होकर आवेंगे।"

इसी समय दोनों ओर से 'या अली !' की एक बहुत बड़ी आवाज़ उठी। मैंने देखा कि पुल के दोनों तरफ हाथ में लाठी लिए हुए दोनों बाँके आ गये। तमाशाइयों में एक सकता सा छा गया, सब लोग चुप हो गये।

पुल के इस पार वाले बाँके ने कड़क कर दूसरे पार वाले बाँके से कहा, "उस्ताद ?"

और दूसरे पार वाले बाँके ने कड़क कर उत्तर दिया, "उस्ताद !"

पुल के इस पार वाले बाँके ने कहा, "उस्ताद आज खून हो जायगा, खून !"

पुल के उस पार वाले बाँके ने कहा, "उस्ताद आज लाशें गिर जायँगी, लाशें !"

पुल के इस पार वाले बाँके ने कहा, "उस्ताद आज कहर हो जायगा, क़हर !"

पुल के उस पार वाले बाँके ने कहा, "उस्ताद आज क़यामत बरपा हो जायगी, क़यामत !"

चारों ओर एक गहरा सन्नाटा फैला था। लोगों के दिल धड़क रहे थे, भीड़ बढ़ती ही जा रही थी।

पुल के इस पार वाले बाँके ने लाठी का एक हाथ घुमाकर एक कदम बढ़ते हुए कहा, "तो फिर उस्ताद होशियार!"

पुल के इस पार वाले बाँके के शागिर्दों ने गगन-भेदी स्वर में नारा लगाया, "या अली!"

पुल के उस पार वाले बाँके ने भी लाठी का एक हाथ घुमा कर एक कदम बढ़ते हुए कहा, "तो फिर उस्ताद सम्हलना!"

पुल के उस पार वाले बाँके के शागिर्दों ने गगन-भेदी स्वर में नारा लगाया, "या अली!"

दोनों तरफ से दोनों बाँके, कदम ब कदम लाठी के हाथ दिखलाते हुए तथा एक-दूसरे को ललकारते आगे बढ़ रहे थे, दोनों तरफ के बाँकों के शागिर्द हर कदम पर "या अली!" के नारे लगा रहे थे, और दोनों तरफ के तमाशाइयों के हृदय उत्सुकता, कौतूहल तथा इन बाँकों की वीरता के प्रदर्शन के कारण धड़क रहे थे।

पुल के बीचोंबीच, एक-दूसरे से दो कदम की दूरी पर दोनों बाँके रुके। दोनों ने एक-दूसरे को थोड़ी देर गौर से देखा। फिर दोनों बाँकों की लाठियाँ उठीं, और दाहिने हाथ से बाएँ हाथ में चली गई।

इस पार वाले बाँके ने कहा, "फिर उस्ताद!"

उस पार वाले बाँके ने कहा, "फिर उस्ताद!"

इस पार वाले बाँके ने अपना हाथ बढ़ाया, और उस पार वाले बाँके ने अपना हाथ बढ़ाया। और दोनों के पंजे गुँथ गए।

दोनों बाँकों के शागिर्दों ने नारा लगाया, "या अली!"

फिर क्या था! दोनों बाँके ज़ोर लगा रहे हैं, पंजा टस से मस नहीं हो रहा है। दस मिनट तक तमाशबीन सकते की हालत में खड़े रहे।

इतने में इस पार वाले बाँके ने कहा, "उस्ताद, गजब के कस हैं !"

उस पार वाले बाँके ने कहा, "उस्ताद बला का जोर है !"

इस पार वाले बाँके ने कहा, "उस्ताद अभी तक मैंने समझा था कि मेरे मुकाबिले का लखनऊ में कोई दूसरा नहीं है।"

उस पार वाले बाँके ने कहा, "उस्ताद आज कहीं जाकर मुझे अपनी जोड़ का जवाँ मर्द मिला !"

इस पार वाले बाँके ने कहा, "उस्ताद, तबीअत नहीं होती कि तुम्हारे जैसे बहादुर आदमी का खून करूँ !"

उस पार वाले बाँके ने कहा, "उस्ताद, तबीअत नहीं होती कि तुम्हारे जैसे शेर दिल आदमी की लाश गिराऊँ !"

थोड़ी देर के लिए दोनों मौन हो गए, पंजा गुँथा हुआ, टस से मस नहीं हो रहा है।

इस पार वाले बाँके ने कहा, "उस्ताद झगड़ा किस बात का है ?"

उस पार वाले बाँके ने कहा, "उस्ताद यही सवाल मेरे सामने है !"

इस पार वाले बाँके ने कहा, "उस्ताद पुल के इस तरफ के हिस्से का मालिक मैं !"

उस पार वाले बाँके ने कहा, "उस्ताद पुल के इस तरफ के हिस्से का मालिक मैं !"

और दोनों ने एक साथ कहा, "पुल की दूसरी तरफ से न हमें कोई मतलब है और न हमारे शागिर्दों को !"

दोनों के हाथ ढीले पड़े, दोनों ने एक दूसरे को सलाम किया और फिर दोनों घूम पड़े। छाती फुलाए हुए दोनों बाँके अपने शागिर्दों से आ मिले। बिजली की तरह यह खबर फैल गई कि दोनों बाँके बराबरी की जोड़ छूटे और सुलह हो गई।

इक्के वाले को पैसे देकर मैं वहाँ से पैदल ही लौट पड़ा क्योंकि देर हो जाने के कारण नख़्ख़ास जाना बेकार था।

इस पार वाला बाँका अपने शागिर्दों से घिरा हुआ चल रहा था। शागिर्द कह रहे थे, "उस्ताद इस वक्त बड़ी समझदारी से काम लिया वरना आज लाशें गिर जातीं।"—"उस्ताद हम सब के सब अपनी-अपनी जान दे देते!"—"लेकिन उस्ताद ग़ज़ब के कस हैं।"

इतने में किसी ने बाँके से कहा, "भुला स्वाँग खूब भर्‌यो!"

बाँके ने देखा कि एक लम्बा तगड़ा देहाती जिसके हाथ में एक भारी सा लट्‌ठ है, सामने खड़ा मुस्करा रहा है।

उस वक्त बाँके खून का घूंट पी कर रह गए। उन्होंने सोचा—एक बाँका दूसरे बाँके से ही लड़ सकता है, देहातियों से उलझना शोभा नहीं देता।

और शागिर्द भी खून का घूंट पी कर रह गए। उन्होंने सोचा—भला उस्ताद की मौजूदगी में उन्हें हाथ उठाने का कोई हक़ भी है?

इक्के वाला

श्री विश्वम्भरनाथ 'कौशिक'

(जन्म—सन् १८६०, मृत्यु सन् १६४४)

[जीवन परिचय—श्री कौशिक जी का जन्म सन् १८६० में अम्बाला छावनी में हुआ था। शैशवकाल में ही आप कानपुर आ बसे, वहां पर आपकी मृत्यु सन् १६४४ में हुई। इस प्रकार सम्पूर्ण आयु उत्तर प्रदेश में ही बिताने के कारण आप वहीं के प्रसिद्ध लेखकों में से माने जाते हैं। यद्यपि आपने मैट्रिक तक ही शिक्षा प्राप्त की लेकिन आपने निजी रूप से अध्ययन करके हिन्दी, उर्दू, संस्कृत एवं अंग्रेजी का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

साहित्यिक दृष्टि से आपका जीवन पर्याप्त सफल रहा है। आपने सामाजिक, पारिवारिक एवं राजनीतिक विषयों पर अनेक कहानियाँ लिखी हैं। उस युग के अन्य लेखकों की तरह आपने भी स्थूल समस्याओं को अपनी रचनाओं में ग्रहण किया है। साहित्य के प्रति आपका दृष्टि-कोण प्रेमचन्द जी के अनुरूप ही था। यथार्थवाद के आदर्श रूप को ग्रहण करके ही आप साहित्य रचना में प्रवृत्त हुए। भाषा की दृष्टि से आप प्रेमचन्द जी से भी अधिक सरल भाषा को लेकर चले हैं जिसमें अलंकारिता का कोई भी प्रयत्न नहीं मिलता। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि आपकी सरल बोलचाल की 'भाषा' में अपना स्थान नहीं बना सके। लेकिन अपने स्वभाव के अनुरूप, इनकी कहानियों में व्यंग्य एवं विनोद यत्र-तत्र बिखरा मिलता है। कहानी में कौतूहल एवं उत्सुकता बनाये रखने में आपको यथेष्ट सफलता मिली है। मनो-

वैज्ञानिक भावाभिव्यक्ति भी प्रचुर मात्रा में मिलती है। कौशिक जी की रचनायें भी बहुत कुछ ध्येयवादी ही रही हैं। कला की प्रौढ़ता की दृष्टि से आप बहुत ऊँचे स्तर को छूते जा रहे हैं, हिन्दी कला साहित्य में सरल, मनोहर एवं विचारपूर्ण रचनाओं की दृष्टि से आपका स्थान बहुत ऊँचा है।]

स्टेशन के बाहर आकर मैंने अपने साथी मनोहरलाल से कहा—कोई इक्का मिल जाय, तो अच्छा है—दस मील का रास्ता है। मनोहरलाल बोले—आइये, इक्के बहुत हैं। उस तरफ खड़े होते हैं।

हम दोनों चले। लगभग दो सौ गज चलने के पश्चात् देखा, तो सामने एक बड़े वृक्ष के नीचे तीन-चार इक्के खड़े दिखाई दिए। एक इक्का अभी आया था और उस पर से दो आदमी अपना असबाब उतार रहे थे। मनोहरलाल ने पुकारा—कोई इक्का गंगापुर चलेगा?

एक इक्के वाला बोला—आइए सरकार, मैं ले चलूँ। कै सवारी हैं?

'दो सवारी—गंगापुर का क्या लोगे?'

'जो सब लेते हैं, वही आप भी दे दीजियेगा?'

'आखिर कुछ मालूम हो तो?'

'दो रुपये का निरख (निर्ख)'

'दो रुपये?—इतना अन्धेर!'

इसी समय जो लोग अभी आए थे, उनमें और इक्के वाले में झगड़ा होने लगा। इक्के वाला बोला—यह अच्छी रही, वहाँ से डेढ़ रुपया तय हुआ, अब यहाँ बीस ही आने दिखाते हैं।

यात्रियों में से एक बोला—'हमने पहले ही कह दिया था, कि हम बीस आने से एक पैसा अधिक न देंगे।'

'मैंने भी तो कहा था, कि डेढ़ रुपये से एक पैसा कम न लूँगा।'

'कहा होगा, हमने तो सुना नहीं!'

'हाँ, सुना नहीं—ऐसी बात आप काहे को सुनेंगे !'

'अच्छा तुम्हें बीस आने मिलेंगे—लेना हो तो लो, नहीं अपना रास्ता लो।'

इक्के वाला, जो हृष्ट-पुष्ट गौरवर्ण था, अकड़ गया, बोला—'रास्ता कैसे देखें, कोई अन्धेर है ! ऐसे रास्ता देखने लगें, तो बस कमाई कर चुके। बायें हाथ से इधर डेढ़ रुपया रख दीजिए, तब आगे बढ़ियेगा ! वहाँ तो बोले, अच्छा जो तुम्हारा रेट होगा वह देंगे; अब यहाँ कहते हैं, रास्ता देखो—अच्छे मिले !"

हम लोग यह कथोपकथन सुनकर इक्का करना भूल गये और उनकी बातें सुनने लगे। एक यात्री बड़ी गम्भीरता पूर्वक बोला—'देखो जी, यदि तुम भलमनसी से बातें करो, तो दो-चार पैसे हम अधिक दे सकते हैं, गरीब आदमी हो, लेकिन जो झगड़ा करोगे, तो एक पैसा न मिलेगा।'

इक्के वाला किंचित् मुस्कराकर बोला—'दो-चार पैसे ! ओफ ओह—आप तो बड़े दाता मालूम होते हैं ! जब चार पैसे देते हो, तो चार आने ही क्यों नहीं देते ?'

'चार आने हमारे पास नहीं हैं।'

'नहीं हैं—अच्छी बात है, तो जो आपके पास हो वही दे दीजिए—न हो न दीजिए और जरूरत हो तो एकाध रुपया मैं आपको दे सकता हूँ।'

'तुम बेचारे क्या दोगे, दो चार पैसे के लिए तो तुम झूठ बोलते हो और बेईमानी करते हो।'

'अरे बाबूजी लाखों रुपयों के लिए तो मैंने बेईमानी की नहीं, चार पैसे के लिए बेईमानी करूँगा ? बेईमानी करता तो इस समय इक्का न हाँकता होता—खैर आपको जो देना हो दे दीजिए—नहीं जाइए—मैंने किराया भर पाया।'

उन्होंने बीस आने निकालकर दिये। इक्के वाले ने चुपचाप ले लिये।

उस इक्के वाले का आकार-प्रकार, उसकी बात-चीत से मुझे कुछ ऐसा प्रतीत हुआ कि अन्य इक्के वालों की तरह यह साधारण आदमी नहीं है। इसमें कुछ विशेषता अवश्य है; अतएव मैंने सोचा कि यदि हो सके, तो गंगापुर इसी के इक्के पर चलना चाहिए। यह सोच कर मैंने उससे पूछा—गंगापुर चलोगे?

वह बोला—हाँ! हाँ! आइये!

'क्या लोगे?'

'वही डेढ़ रुपया!'

मैंने सोचा, अन्य इक्के वाले तो दो रुपये माँगते थे, यह डेढ़ रुपया कहता है, आदमी सच्चा मालूम होता है। यह सोचकर मैंने कहा—अच्छी बात है, चलो डेढ़ रुपया देंगे।

हम दोनों सवार होकर चले। थोड़ी दूर चलने पर मैंने पूछा—ये दोनों कौन थे? इक्के वाले ने कहा नारायण जाने कौन थे, परदेसी मालूम होते हैं; लेकिन परले सिरे के झूठे और बेईमान! चार आने के लिए प्राण तजे दे रहे थे।

मैंने पूछा—तो क्या सचमुच तुमसे डेढ़ रुपया ही तय हुआ था!

'और नहीं क्या आप झूठ समझते हैं? बाबू जी, यह पेशा ही बदनाम है, आपका कोई कसूर नहीं? इक्के, ताँगे वाले सदा झूठे और बेईमान समझे जाते हैं। और होते भी हैं—अधिकतर तो ऐसे ही होते हैं। इन्हें चाहे रुपये की जगह सवा रुपया दीजिये तब भी सन्तुष्ट नहीं होते।'

मैंने पूछा—तुम कौन जाति हो?

'मैं? मैं तो सरकार वैश्य हूँ।'

'अच्छा! वैश्य होकर इक्का हाँकते हो।'

'क्यों सरकार, इक्का हाँकना कोई बुरा काम तो है नहीं ?'

'नहीं, मेरा मतलब यह नहीं है कि इक्का हाँकना कोई बुरा काम है। मैंने इसलिए कहा कि वैश्य तो बहुधा व्यापार करते हैं।'

'यह भी तो व्यापार ही है।'

'हाँ, है तो व्यापार ही।'

मैं मन ही मन अपनी इस बेतुकी बात पर लज्जित हुआ, अतएव मैंने प्रसंग बदलने के लिए पूछा—कितने दिनों से यह काम करते हो ?

'दो बरस हो गये।'

'इसके पहले क्या करते थे ?'

यह सुनकर इक्के वाला गम्भीर होकर बोला—क्या बताऊँ क्या करता था।

उसकी इस बात से तथा यात्रियों से उसने जो बातें कही थीं उनका तारतम्य मिलाकर मैंने सोचा—इस व्यक्ति का जीवन रहस्य-मय मालूम होता है। यह सोचकर मैंने उससे पूछा—कोई हर्ज न समझो, तो बताओ।

'हर्ज तो कोई नहीं है बाबूजी ! पर मेरी बात पर लोगों को विश्वास नहीं होता। इक्के वाले बहुधा परले-सिरे के गप्पी समझे जाते हैं, इसलिए मैं किसी को अपना हाल सुनाता नहीं।'

'खैर, मैं उन आदमियों में नहीं हूँ, यह तुम विश्वास रखो।'

अच्छी बात है सुनिये—

(२)

मैं अगरवाल बनिया हूँ। मेरा नाम श्यामलाल है। मेरा जन्म-स्थान मैनपुरी है। मेरे पिता व्यापार करते थे। जिस समय मेरे पिता की मृत्यु हुई, उस समय मेरी उम्र १५ साल की थी। पिता के मरने पर घर गृहस्थी का सारा भार मेरे ऊपर पड़ा। मैंने एक वर्ष तक काम-काज चलाया, पर मुझे व्यापार का अनुभव न था, इस कारण घाटा हुआ और मेरा सब काम बिगड़ गया।

अन्त को और कोई उपाय न देख मैंने वहीं एक धनी आदमी के यहाँ नौकरी कर ली। उस समय मेरे परिवार में मेरी माता और एक छोटी बहन थी। जिनके यहाँ मैंने नौकरी की थी वह थे तो मालदार, परन्तु बड़े कंजूस थे। ऊपर से देखने में वह एक मामूली हैसियत के आदमी दिखाई पड़ते थे, परन्तु लोग कहते थे, कि उनके पास एक लाख के लगभग नकद रुपया है। उस समय मैंने लोगों की बात पर विश्वास नहीं किया था, क्योंकि घर की हालत देखने से किसी को यह विश्वास नहीं हो सकता था, कि उनके पास इतना रुपया होगा। उनकी उम्र उस समय चालीस मे ऊपर थी। उन्होंने दूसरी शादी की थी और उनकी पत्नी की उम्र बीस वर्ष के लगभग थी। पहली स्त्री से उनके एक लड़का था। वह जवान था और उसका विवाह इत्यादि सब हो चुका था। उसका नाम शिवचरण लाल था। पहले तो वह अपने पिता के पास ही रहता था, परन्तु जब पिता ने दूसरा विवाह किया, तो वह नाराज होकर अपनी स्त्री सहित फर्रुखाबाद चला गया। वहाँ उसने एक दूकान कर ली और वहीं रहने लगा।

उन दिनों मुझे कसरत करने का शौक था, इसलिए मेरा बदन बहुत अच्छा बना हुआ था। कुछ दिनों पश्चात् मेरी मालिकिन मेरी बहुत खातिर करने लगीं। खूब मेवा-मिठाई खिलाती थीं और महीने में दस-बीस रुपये नकद दे देती थीं। इस कारण दिन बड़ी अच्छी तरह कटने लगे। मैं मालिकिन के खातिर करने का असली मतलब उस समय नहीं समझा। मैंने जो समझा, वह यह था, कि मेरी सेवा से प्रसन्न होकर तथा मुझे गरीब समझ कर वह ऐसा करती हैं। आखिर जब एक दिन उन्होंने मुझे एकान्त में बुलाकर छेड़-छाड़ की, तब मेरी आँखें खुलीं। मुझे आरम्भ से ही इन कामों से नफरत थी। मैं इन बातों को जानता भी नहीं था, न कभी ऐसी संगति ही में रहा था, जिसमें इन बातों का ज्ञान प्राप्त होता।

मैं उस समय जो जानता था वह यह था; कि आदमी को खूब कसरत करनी चाहिए और स्त्रियों से बचना चाहिए। जब मालिकिन ने छेड़छाड़ की, तो मुझे उनके प्रति अनुराग उत्पन्न होने के बदले भय मालूम हुआ। मेरा कलेजा धड़कने लगा। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि वह एक चुड़ैल है और मुझे भक्षण करना चाहती है।

इक्के वाले की इस बात पर मेरे साथी मनोहरलाल बहुत हँसे, बोले—तुम तो बिलकुल बुद्धू थे जी!

श्यामलाल बोला—अब जो समझिये, परन्तु बात ऐसी ही थी। खैर, मैं अपना हाथ छुड़ाकर उनके सामने से भाग आया। अब मुझे उनके सामने जाते डर मालूम होने लगा। यही खटका लगा रहता था, कि कहीं किसी दिन फिर न पकड़ ले। तीन-चार दिन बाद वही हुआ। उन्होंने अवसर पाकर फिर मुझे घेरा। उस दिन मैंने उनसे साफ-साफ कह दिया, कि यदि वह ऐसी हरकत करेंगी, तो मैं मालिक से कह दूँगा। बस उसी दिन से मेरी खातिर बन्द हो गई। केवल खातिर बन्द होकर रह जाती; वहाँ तक गनीमत थी, परन्तु अब उन्होंने मुझे तंग करना आरम्भ किया। बात-बात पर डाँटती थीं। कभी-कभी मालिक से शिकायत कर देती थी। आखिर जब एक दिन मालिक ने मुझे मालिकिन के कहने से बहुत डाँटा, तो मैंने उन्हें अलग ले जा कर कहा—लालाजी, मेरा हिसाब कर दीजिये, मैं अब आप के यहाँ नौकरी नहीं करूँगा। लालाजी लाल-पीली आँखें करके बोले—एक तो कसूर करता है और उस पर हिसाब माँगता है? मुझे भी तैश आ गया। मैंने कहा—कसूर किस सुसरे ने किया है? लालाजी बोले—तो क्या मालिकिन झूठ कहती है? मैंने कहा—बिलकुल झूठ! लालाजी ने कहा—तेरे से उनकी शत्रुता है क्या? मैंने कहा—हाँ शत्रुता है। उन्होंने पूछा—क्यों? मैंने कहा—अब आप से क्या बताऊँ। आप उसे भी झूठ मानेंगे। इसलिए सबसे अच्छी बात यही है, कि मेरा हिसाब कर दीजिए।

मेरी बात सुनकर लाला के पेट में खलबली मची। उन्होंने कहा—पहले यह बता, कि बात क्या है ? मैंने कहा—उसके कहने से कोई फायदा नहीं, आप मेरा हिसाब दे दीजिए, परन्तु लाला मेरे पीछे पड़ गये। मैंने विवश होकर सब हाल बता दिया। मुझे भय था, कि लाला को मेरी बात पर विश्वास न होगा। पर ऐसा नहीं हुआ। लाला ने मेरी पीठ पर हाथ फेर कर कहा—शाबाश श्यामलाल, मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ। अब तुम आनन्द से रहो, तुम्हारी तरफ कोई आँख उठा कर नहीं देख सकेगा। बस उस दिन से मैं निर्द्वन्द्व हो गया। अब अधिकतर मैं मालिक के पास बाहर ही रहने लगा, भीतर बहुत कम जाता था। उसके पश्चात् भी मालिकिन ने मेरे निकलवाने के लिए चेष्टा की पर लाला ने उनकी एक न सुनी, आखिर वह भी हार कर बैठ रही।

इस प्रकार एक वर्ष और बीता। इस बीच में लाला के एक रिश्तेदार—जो उनके चचेरे भाई होते थे—बहुत आने जाने लगे। उनकी उम्र पच्चीस-छब्बीस वर्ष के लगभग होगी। शरीर के मोटे ताजे और तन्दुरुस्त आदमी थे। पहले तो मुझे उनका आना-जाना कुछ नहीं खटका; किन्तु वह मालिकिन के पास घण्टों बैठे रहते हैं, तो मुझे हुआ, कि हो-न-हो दाल में कुछ काला अवश्य है। लाला जी अधिकतर दूकान में रहने के कारण यह बात न जानते थे। घर का कहार भी मालिकिन से मिला हुआ मालूम होता था; इसलिए वह भी चुप्पी साधे था। एक मैं ही ऐसा था, जिसके द्वारा लाला को यह खबर मिल सकती थी। अन्त में मैंने इस रहस्य का पता लगाने पर कमर बाँधी और एक दिन अपनी आँखों उनकी पापमयी लीला देखी। बस उसी दिन मैंने लाला को खबर कर दी। लाला उस बात को चुपचाप पी गये। आठ-दस रोज बाद लाला ने मुझे बुलाकर कहा—श्यामलाल, तेरी बात ठीक निकली, आज मैंने भी देखा। जिस दिन तूने कहा था, उसी दिन से मैं इसकी टोह में था—आज तेरी बात की सत्यता प्रमाणित हो गई। अब बता क्या करना चाहिए ? मैंने इस

उम्र में विवाह करके बड़ी भूल की; पर अब इसका उपाय क्या है? मैंने कहा—अपने भाई साहब का आना-जाना बन्द कर दीजिये, यही उपाय है और हो ही क्या सकता है? लाला ने सोच कर कहा—हाँ, यही ठीक है। जी मे तो आता है इस औरत को निकाल बाहर करूँ; पर इसमें बड़ी बदनामी होगी। लोग हँसेंगे कि पहले तो विवाह किया, फिर निकाल दिया।

मैंने कहा—हाँ, यह तो आपका कहना ठीक है। बस उनका आना-जाना बन्द कर दीजिये; अतएव उसी दिन से यह हुक्म लग गया, लाला की अनुपस्थिति मे बाहर का कोई आदमी चाहे रिश्तेदार हो, चाहे कोई हो—अन्दर न जाने पावे। और यह काम मेरे सुपुर्द किया गया। उस दिन से मैंने उन्हें नहीं घुसने दिया। इस पर उन्होंने मुझे प्रलोभन भी दिये, धमकी भी दी; पर मैंने एक न सुनी। मालिकिन ने भी बहुत कुछ कहा सुना, खुशामद की; पर मैं जरा भी न पसीजा। कहरवा भी बोला—तुमको इससे क्या मतलब है, जो होता है, होने दो। मैंने उससे कहा—सुनता है बे, तू तो पक्का नमकहराम है। जिसका नमक खाता है, उसी के साथ दगा करता है। खैरियत इसी में है, कि चुप रह, नहीं तो तुझे भी निकाल बाहर करूँगा।

यह सुन कर कहारराम चुप हो गये।

थोड़े दिन बाद लाला के उन रिश्तेदारों ने आना जाना बिलकुल बन्द कर दिया। अब वह लाला के पास भी नहीं आते थे। मैंने भी सोचा, चलो अच्छा हुआ, आँख फूटी पीर गई।

इसके छः महीने बाद एक दिन लाला को हैजा हो गया। मैंने बहुत दौड़-धूप की; इलाज इत्यादि कराया पर कोई फ़ायदा न हुआ। लाला जी समझ गये, कि अन्त समय निकट है; अतएव उन्होंने मुझे बुलाकर कहा—श्यामलाल, मैं तुझे अपना नौकर नहीं, पुत्र समझता हूँ, इसलिए मैं अपनी कोठरी की ताली तुझे देता हूँ। मेरे मरने

पर ताली मेरे लड़के को देना और जब तक वह न आ जाय, तब तक किसी को कोठरी न खोलने देना। बस तुझ से मैं इतनी अन्तिम सेवा चाहता हूँ।

मैंने कहा—ऐसा ही होगा, चाहे मेरे प्राण ही क्यों न चले जायँ; पर मैं इसमें अन्तर न पड़ने दूँगा। इसके पश्चात् उन्होंने मुझे पाँच हजार रुपये नकद दिये और बोले—यह लो, मैं तुम्हें देता हूँ। मैं लेता न था; पर उन्होंने कहा—तू यदि यह न लेगा, तो मुझे दुःख होगा; अतएव मैंने ले लिये। इसके चार घण्टे बाद उनका देहान्त हो गया। उनके लड़के को उनके मरने के तीन घण्टे पहले तार दे दिया था। उनके मरने के पाँच घण्टे बाद वह मैनपुरी पहुँचा था। उनका देहान्त रात को आठ बजे हुआ और वह रात के दो बजे के निकट पहुँचा था। लाला के मरने के बाद उनकी स्त्री ने मुझसे कहा—कोठरी की ताली लाओ। मैंने कहा—ताली तो लाला, शिवचरण लाल के हाथ में देने को कह गये हैं, मैं उन्हीं को दूँगा। उन्होंने कहा—अरे मूर्ख, इससे तुझे क्या मिलेगा। कोठरी खोलकर रुपया निकाल ले—मुझे मत दे, तू ले ले, मैं भी तेरे साथ रहूँगी, जहाँ तू ले चलेगा तेरे साथ चलूँगी। मैंने कहा—मुझ से यह नहीं होगा। मैं तुम्हें ले जाकर रखूँगा कहाँ? दूसरे तुम मेरे उस मालिक की स्त्री हो, जो मुझे अपने पुत्र के समान मानता था। मुझसे यह न होगा, कि तुम्हें अपनी स्त्री बना कर रखूँ।

बाबूजी, एक घण्टे तक उसने मुझे समझाया, रोई भी, हाथ भी जोड़े; परन्तु मैंने एक न मानी। आखिर उसने अन्य उपाय न देख अपने देवर अर्थात् उन्हीं को बुलवाया, जिनका आना-जाना मैंने बन्द कराया था। उन्होंने आते ही बड़ा रुआब झाड़ा। मुझे पुलिस में देने की धमकी दी, पर मैं इससे भयभीत न हुआ। तब वह ताला तोड़ने पर आमादा हुए। मैं कोठरी के द्वार पर एक मोटा डंडा लेकर बैठ गया और मैंने उनसे कह दिया कि जो कोई ताला तोड़ने आवेगा, पहले मैं उसका सिर तोड़ूँगा। इसके बाद जो होगा देखा

जायगा। बस फिर उनका साहस न हुआ। इसी रगड़े-झगड़े में रात के दो बज गये और शिवचरण लाल आ गये। मैंने उनको ताली दे दी और सब हाल बता दिया।

बाबूजी, जब कोठरी खोली गई, तो उसमें से साठ हज़ार रुपये नकद निकले। इन रुपयों का हाल लाला के अतिरिक्त और किसी को भी मालूम न था। यदि मैं मालिकिन की बात मानकर बीस-पच्चीस हज़ार रुपये भी निकाल लेता, तो किसी को भी सन्देह न होता, पर मेरे मन में इस बात का विचार एक क्षण के लिए भी पैदा न हुआ। मेरी माँ रोज़ रामायण पढ़कर मुझे सुनाया करती थीं, और मुझे यही समझाया करती थीं कि—बेटा, पाप और बेईमानी से सदा बचना, इससे तुझे कभी दु:ख न होगा। उनकी यह बात मेरे जी में बसी हुई थी और इसीलिए मैं बच गया। उसके बाद शिवचरण लाल ने भी मुझे एक हज़ार रुपया दिया। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि—तुम मेरे पास रहो; पर लाला के मरने से और जो अनुभव मुझे हुए थे; उनके कारण मैंने उनके यहाँ रहना उचित न समझा। लाला की तेरहवीं होने के बाद मैंने उनकी नौकरी छोड़ दी। छः हज़ार रुपये में से दो हज़ार मैंने अपनी बहन के ब्याह में खर्च किये और दो हज़ार अपने ब्याह में। एक हज़ार लगाकर एक दूकान की, और एक हज़ार बचा कर रक्खा; पर दूकान में फिर घाटा हुआ। तब मैंने मैनपुरी छोड़ दी और इधर चला आया। नौकरी करने की इच्छा नहीं थी, इसलिए मैंने इक्का-घोड़ा खरीद लिया और किराये पर चलाने लगा—तब से बराबर यही काम कर रहा हूँ। इसमें मुझे खाने भर को मिल जाता है। अपने आनन्द से रहता हूँ। न किसी के लेने में हूँ, न देने में। अब बताइये, यह बाबू कहते थे कि चार आने के पैसे के लिए मैं बेईमानी करता हूँ। अब मैं उनसे क्या कहता। यह तो दुनिया है, जो जिसकी समझ में आता है कहता है। मैं भी सुन लेता हूँ। इक्के वाले बदनाम हैं; इसलिए मुझे भी ये बातें सुननी पड़ती हैं।

श्यामलाल की आत्म-कहानी सुनकर मैं कुछ देर तक स्तब्ध बैठा रहा। इसके पश्चात मैंने कहा—भाई तुम तो दर्शनीय आदमी हो, तुम्हारे तो चरण छूने को जी चाहता है।

श्यामलाल हँस कर बोला—अजी बाबूजी क्यों काँटों में घसीटते हो। मेरे चरण आप छुएँ—राम! राम! मैं कोई साधु थोड़ा ही हूँ।

मैंने कहा—और साधु कैसे होते हैं, उनके कोई सुर्खाब का पर तो लगा होता नहीं। सच्चे साधु तो तुम्हीं हो। यह सुन कर श्यामलाल हँसने लगा। इसी समय गंगापुर आ गया और हम इक्के से उतरकर अपने निर्दिष्ट स्थान की ओर चल दिये।

रास्ते में मैंने मनोहरलाल से कहा—इस संसार में अनेकों लाल गुदड़ी में छिपे पड़े हैं। उन्हें कोई जानता तक नहीं।

मनोहरलाल—जी हाँ! और नामधारी ढोंगी महात्मा ईश्वर की तरह पूजे जाते हैं।

बात बहुत पुरानी हो गई है, पता नहीं महात्मा श्यामलाल अब भी जीवित हैं या नहीं, परन्तु अब भी जब कभी उनका स्मरण हो आता है, तो मैं उनकी काल्पनिक मूर्ति के चरणों में अपना मस्तक नत कर देता हूँ।

हार की जीत

सुदर्शन

[जीवन-परिचय--सुदर्शन जी का जन्म सन् १८९६ में सियालकोट (पंजाब) में हुआ। आपका असली नाम बद्रीनाथ है परन्तु हिन्दी साहित्य में आप सुदर्शन नाम से लिखते हैं। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा उर्दू में हुई। जब आप छठवें दर्जे में पढ़ते थे, तब आपने उर्दू में पहली कहानी लिख डाली थी। इस कहानी के छपने पर आपके रचना-कौशल की बड़ी प्रशंसा हुई। कुछ ही समय में आप उर्दू के प्रसिद्ध लेखकों में गिने जाने लगे। साथ ही साथ आपने अपना अध्ययन जारी रक्खा तथा बी० ए० की परीक्षा पास की। प्रेमचन्द की तरह आप भी उर्दू के ख्याति प्राप्त लेखक बन चुकने पर हिन्दी रचना में प्रवृत्त हुए। आपकी प्रथम कहानी सन् १९२० में सरस्वती में प्रकाशित हुई। थोड़े ही समय में आपने हिन्दी के क्षेत्र में भी लोकप्रियता प्राप्त कर ली। आपकी कहानियाँ स्वाभाविकता एवं मनोरंजकता को लिए हुए हैं। आप हिन्दी-उर्दू दोनों भाषाओं के विशेषज्ञ हैं। आपने हिन्दी-उर्दू में दर्जनों कहानियाँ तथा उपन्यासों की रचना की है। उनमें से तीर्थयात्रा, पनघट, सुदर्शन सुधा, परिवर्तन (कहानी संग्रह) भाग्यवती, फूलवती (उपन्यास) आनरेरी मजिस्ट्रेट, अंजना, धूपछाँह, सिकन्दर आदि (नाटक) तथा झंकार (गीतिकाव्य) आदि प्रसिद्ध हैं।

सुदर्शन जी की साहित्य साधना बहुत कुछ प्रेमचन्द जैसी ही है। इनकी कहानियों में यथार्थ तथा आदर्श का समन्वय, चरित्र चित्रण की प्रधानता, आकस्मिक घटना अथवा दैवयोग सहारा लेना, भाषा का प्रचलित रूप तथा संयम एवं मर्यादा-मय वर्णन आदि

ऐसी विशेषताएँ हैं जो प्रेमचन्द के प्रायः सभी लेखकों में पाई जाती हैं। लेकिन प्रत्येक कलाकार अपनी विशिष्टता रखता है, वह किसी परिपाटी में बँध कर नहीं रह जाता। सुदर्शन जी प्रतिभा सम्पन्न लेखक हैं। आपकी रचनाओं में मौलिकता की अच्छी सूझ-बूझ दिखाई पड़ती है। समाज को देखने तथा उसकी समस्याओं पर विचार करने का उनका अपना ही दृष्टिकोण है। अंग्रेजी साहित्य के सुन्दर तत्वों का समावेश भी इन्होंने अपनी कला में किया है और वास्तव में हिन्दी कहानी के क्षेत्र में आप अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं।

सुदर्शन जी की कहानी रोचक, प्रभावोत्पादक, मार्मिक एवं रसोत्पादक होती है। 'हार की जीत' प्रारम्भिक काल की रचना होने पर भी अपनी रसात्मकता के लिए आज भी प्रसिद्ध है।

सुदर्शन जी ने सामाजिक, ऐतिहासिक तथा राजनैतिक विषयों पर कहानियाँ लिखी हैं। शहरी जीवन का चित्रण बहुत सुन्दर बन पड़ा है। मध्यवर्गीय पात्रों के पारिवारिक जीवन की वर्तमान समस्याओं का अंकन बहुत ही सजीव एवं हृदयस्पर्शी है। शैली में भावपूर्णता तथा चित्रमयता मिलती है। 'हार की जीत', 'रक्षा बन्धन', 'पाप का परिणाम', 'राजपूताने का प्रायश्चित' आदि कहानियाँ बहुत उच्च कोटि की हैं। 'कवि की स्त्री' आत्मकथात्मक शैली का सुन्दर उदाहरण है। न्यायभंगी ऐतिहासिक कहानियों में सर्वश्रेष्ठ है।

उर्दू से हिन्दी में आने के कारण उनकी शैली में रोचकता का गुण विद्यमान है। इनकी भाषा में उर्दू की अधिकता नहीं, अपितु संस्कृत के तत्सम शब्दों का समुचित प्रयोग मिलता है। वाक्य छोटे तथा भाव व्यंजना के अनुरूप हैं। कथोपकथन नाटक का सा आनन्द देते हैं। भावों का विश्लेषण इतना अधिक नहीं हो पाया है, परन्तु सूक्तियाँ एक तीखी मार्मिकता लिए हुए हैं। कहानियों में अन्त तक कौतूहल बना रहता है। साथ ही रहस्य उद्घाटन भी बड़ी कलात्मकता के साथ होता है। आप भाषा तथा शैली की दृष्टि से एक सफल कहानीकार माने जाते हैं।]

(१)

माँ को अपने बेटे, साहूकार को अपने देनदार और किसान को अपने लहलहाते खेत को देखकर जो आनन्द आता है, वही आनन्द बाबा भारती को अपना घोड़ा देखकर आता था। भगवद्भजन से जो समय बचता, वह घोड़े के अर्पण हो जाता। यह घोड़ा बड़ा सुन्दर था, बड़ा बलवान्। इसके जोड़ का घोड़ा सारे इलाके में न था। बाबा भारती उसे सुलतान कहकर पुकारते, अपने हाथ से खरहरा करते, खुद दाना खिलाते और देख-देख कर प्रसन्न होते थे। ऐसी लगन, ऐसे आदर, ऐसे स्नेह से कोई सच्चा प्रेमी अपने साजन को भी न चाहता होगा। उन्होंने अपना सब कुछ छोड़ दिया था—रुपया, माल, असबाब, जमीन; यहाँ तक कि उन्हें नागरिक जीवन से भी घृणा थी। अब गाँव से बाहर छोटे-से मन्दिर में रहते और भगवान् का भजन करते। परन्तु सुलतान के बिछुड़ने की वेदना उनके लिये असह्य थी। मैं इसके बिना नहीं रह सकूँगा, उन्हें ऐसी भ्रांति सी हो गई थी। वह उसकी चाल पर लट्टू थे। कहते, ऐसे चलता है, जैसे मोर घन-घटा को देखकर नाच रहा हो। गाँवों के लोग इस मोहमाया को देखकर चकित थे। कभी-कभी कनखियों से इशारे भी करते थे, परन्तु बाबा भारती को इसकी परवाह न थी। जब तक संध्या-समय सुलतान पर चढ़कर आठ-दस मील का चक्कर न लगा लेते, उन्हें चैन न आती।

खड्गसिंह इस इलाके का प्रसिद्ध डाकू था, लोग उसका नाम सुनकर काँपते थे। होते-होते सुलतान की कीर्ति उसके कानों तक भी पहुँची, उसका हृदय उसे देखने के लिए अधीर हो उठा। वह एक दिन दोपहर के समय बाबा भारती के पास पहुँचा और नमस्कार करके बैठ गया।

बाबा भारती ने पूछा—"खड्गसिंह क्या हाल है?" खड्गसिंह ने सिर झुकाकर उत्तर दिया—"आपकी दया है।"

"कहो इधर कैसे आ गये ?"

"सुलतान की चाह खींच लाई।"

"विचित्र जानवर है। देखोगे, तो प्रसन्न हो जाओगे।"

"मैंने भी बड़ी प्रशंसा सुनी है।"

"उसकी चाल तुम्हारा मन मोह लेगी।"

"कहते हैं, देखने में भी बड़ा सुन्दर है।"

"क्या कहना, जो उसे एक बार देख लेता है, उसके हृदय पर उसकी छवि अंकित हो जाती है।"

"बहुत दिनों से अभिलाषा थी, आज उपस्थित हो गया हूँ।"

बाबा और खड्गसिंह दोनों अस्तबल में पहुँचे। बाबा ने घोड़ा दिखाया घमंड से, खड्गसिंह ने घोड़ा देखा आश्चर्य से। उसने सहस्रों घोड़े देखे थे, परन्तु ऐसा बांका घोड़ा उसकी आँखों से कभी न गुजरा था। सोचने लगा, भाग्य की बात है। ऐसा घोड़ा खड्गसिंह के पास होना चाहिए था। इस को ऐसी चीजों से क्या मतलब! कुछ देर तक खड्गसिंह आश्चर्य से चुपचाप खड़ा रहा। इसके पश्चात् उसके हृदय में हलचल होने लगी। बालकों की सी अधीरता से बोला—

"परन्तु बाबाजी, इसकी चाल न देखी तो क्या देखा!"

बाबाजी मनुष्य ही थे। अपनी वस्तु की प्रशंसा दूसरे के मुख से सुनने के लिये उनका हृदय भी अधीर हो गया। घोड़े को खोलकर बाहर लाये और उसकी पीठ पर हाथ फेरने लगे। एकाएक उचक-कर सवार हो गए, घोड़ा वायु-वेग से उड़ने लगा। उसकी चाल देखकर, उसकी गति देखकर, खड्गसिंह के हृदय पर सांप लोट गया। वह डाकू था, और जो वस्तु पसंद आ जाय, उस पर अपना अधिकार समझता था। उसके पास बाहुबल था, और रुपया था, और आदमी थे। जाते-जाते बोला—"बाबाजी, मैं यह घोड़ा आपके पास न रहने दूँगा।"

बाबा भारती डर गये। अब उन्हें रात को नींद न आती थी। सारी रात अस्तबल की रखवाली में कटने लगी। प्रतिक्षण खड्गसिंह का भय लगा रहता। परन्तु कई मास बीत गए, वह न आया। यहाँ तक कि बाबा भारती कुछ लापरवाह हो गए और इस भय को स्वप्न के भय की नाईं मिथ्या समझने लगे।

(२)

संध्या का समय था। बाबा भारती सुलतान की पीठ पर सवार होकर घूमने जा रहे थे। इस समय उनकी आँखों में चमक थी, मुख पर प्रसन्नता। कभी घोड़े के शरीर को देखते, कभी रंग को और मन में फूले न समाते थे।

सहसा एक आवाज आई—"ओ बाबा, इस कँगले की भी बात सुनते जाना।"

आवाज में करुणा थी, बाबा ने घोड़े को थाम लिया। देखा, एक अपाहिज पड़ा कराह रहा है। बोले—"क्यों तुम्हें क्या कष्ट है?"

अपाहिज ने हाथ जोड़कर कहा—"बाबा, मैं दुखिया हूँ। मुझ पर दया करो। रामाँवाला यहाँ से तीन मील है; मुझे वहाँ जाना है। घोड़े पर चढ़ा लो, परमात्मा तुम्हारा भला करेगा।"

"वहाँ तुम्हारा कौन है?"

"दुर्गादत्त वैद्य का नाम आपने सुना होगा। मैं उनका सौतेला भाई हूँ।"

बाबा भारती ने घोड़े से उतर कर अपाहिज को घोड़े पर किया और स्वयं उसकी लगाम पकड़कर धीरे-धीरे चलने लगे।

सहसा उन्हें एक झटका-सा लगा, और लगाम हाथ से छूट गई। उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब उन्होंने देखा कि अपाहिज घोड़े की पीठ पर तनकर बैठा है और घोड़े को दौड़ाए लिए जा रहा है। उनके मुख से भय, विस्मय और निराशा से मिली हुई चीख निकल गई—यह अपाहिज खड्गसिंह डाकू था।

बाबा भारती कुछ देर तक चुप रहे, और इसके पश्चात् कुछ निश्चय करके पूरे बल से चिल्लाकर बोले—"जरा ठहर जाओ।"

खड्गसिंह ने यह आवाज सुनकर घोड़ा रोक लिया और उसकी गर्दन पर प्यार से हाथ फेरकर कहा—"बाबाजी, यह घोड़ा अब न दूंगा।"

"परन्तु एक बात सुनते जाओ।"

खड्गसिंह ठहर गया। बाबा भारती ने निकट जाकर उसकी ओर ऐसी आँखों से देखा, जैसे बकरा कसाई को देखता है, और कहा—"यह घोड़ा तुम्हारा हो चुका। मैं तुमसे इसे वापस करने के लिए न कहूँगा, परन्तु खड्गसिंह, केवल एक प्रार्थना करता हूँ, उसे अस्वीकार न करना; नहीं तो मेरा दिल टूट जायगा।"

"बाबाजी, आज्ञा कीजिए। मैं आपका दास हूँ, केवल यह घोड़ा न दूंगा।"

"अब घोड़े का नाम न लो, मैं तुम से इसके विषय में कुछ न कहूँगा। मेरी प्रार्थना केवल यह है कि इस घटना को किसी के सामने प्रगट न करना।"

खड्गसिंह का मुँह आश्चर्य से खुला रह गया। उसका विचार था कि मुझे इस घोड़े को लेकर यहाँ से भागना पड़ेगा, परन्तु बाबा भारती ने स्वयं उससे कहा कि इस घटना को किसी के सामने प्रगट न करना। इससे क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? खड्गसिंह ने बहुत सोचा, बहुत सिर मारा, परन्तु कुछ समझ न सका। हार कर उसने अपनी आँखें बाबा भारती के मुख पर गाड़ दी और पूछा—"बाबाजी, इसमें आपको क्या डर है?"

बाबा भारती ने उत्तर दिया—"लोगों को यदि इस घटना का पता लग गया, तो वे किसी गरीब पर विश्वास न करेंगे।"

और यह कहते-कहते उन्होंने सुलतान की ओर से इस तरह मुँह मोड़ लिया, जैसे उनका उससे कभी कोई सम्बन्ध ही न था। बाबा

भारती चले गए, परन्तु उनके शब्द खड्गसिंह के कानों में उसी प्रकार गूँज रहे थे। सोचता था, कैसे उच्च विचार हैं! कैसा पवित्र भाव है! उन्हें इस घोड़े से प्रेम था। इसे देखकर उनका मुख फूल की नाईं खिल जाता था। कहते थे इसके बिना मैं न रह सकूंगा। इसकी रखवाली में वह कई रातें सोये नहीं। भजन-भक्ति के बदले रखवाली करते रहे। परन्तु आज उनके मुख पर चिन्ता की रेखा तक न देख पड़ती थी। उन्हें केवल यह ख्याल था कि कहीं लोग गरीबों पर विश्वास करना न छोड़ दें। उन्होंने अपनी निज की हानि को मनुष्यत्व की हानि पर न्योछावर कर दिया। ऐसा मनुष्य मनुष्य नहीं देवता है!

(३)

रात्रि के अन्धकार में खड्गसिंह बाबा भारती के मन्दिर में पहुँचा। चारों ओर सन्नाटा था। आकाश पर तारे टिमटिमा रहे थे। थोड़ी दूर पर गाँवों के कुत्ते भौंकते थे। मन्दिर के अन्दर कोई शब्द सुनाई न देता था। खड्गसिंह सुलतान की बाग पकड़े हुए था। वह धीरे-धीरे अस्तबल के फाटक पर पहुँचा। फाटक किसी वियोगी की आँखों की तरह चौपट खुला था। किसी समय वहाँ बाबा भारती स्वयं लाठी लेकर पहरा देते थे। परन्तु आज उन्हें किसी चोरी, किसी डाके का भय न था। हानि ने हानि की ओर से बेपरवाह कर दिया था। खड्गसिंह ने आगे बढ़कर सुलतान को उसके स्थान पर बाँध दिया और बाहर निकलकर सावधानी से फाटक बन्द कर दिया। इस समय उसकी आँखों में पश्चात्ताप के आँसू थे।

अंधकार में रात्रि ने तीसरा पहर समाप्त किया, और चौथा पहर आरम्भ होते ही बाबा भारती ने अपनी कुटिया से बाहर निकल ठंडे जल से स्नान किया। उसके पश्चात् इस प्रकार जैसे कोई स्वप्न चल रहा हो, उनके पाँव अस्तबल की ओर मुड़े। परन्तु फाटक पर पहुँचकर उनको अपनी भूल प्रतीत हुई, साथ घोर निराशा ने पाँवों को मन-मन-भर का भारी बना दिया। वह वहीं रुक गए।

घोड़े ने स्वाभाविक मेधा से अपने स्वामी के पाँवों की चाप को पहचान लिया, और जोर से हिनहिनाया।

बाबा भारती दौड़ते हुए अन्दर घुसे और अपने घोड़े के गले से लिपटकर इस प्रकार रोने लगे, जैसे बिछुड़ा हुआ पिता चिरकाल के पश्चात् पुत्र से मिलकर रोता है। बार बार उसकी पीठ पर हाथ फेरते थे—बार-बार उसके मुँह पर थपकियाँ देते थे और कहते थे—अब कोई गरीबों की सहायता से मुँह न मोड़ेगा।

थोड़ी देर के बाद जब वह अस्तबल से बाहर निकले, तो उनकी आँखों से आँसू बह रहे थे। ये आँसू उसी भूमि पर ठीक उसी जगह गिर रहे थे, जहाँ बाहर निकलने के बाद खड्गसिंह खड़ा होकर रोया था। दोनों के आँसुओं का उस भूमि की मिट्टी पर परस्पर मेल हो गया।

मधुरिमा

श्रीमती कमला देवी चौधरी

[जीवन परिचय—बीसवीं शताब्दी में स्त्री-शिक्षा के प्रचार के साथ-साथ कई स्त्री लेखिकाओं ने साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में पदार्पण किया। जिस प्रकार महादेवी वर्मा काव्य-क्षेत्र में अत्यन्त प्रसिद्ध हुईं उसी प्रकार कहानी क्षेत्र में श्रीमती कमला देवी चौधरी का प्रमुख स्थान है। आप समाज सेवा के कार्यों में प्रायः अपना सारा समय लगाती हैं। नारी जाति की अधोगति देखकर आपको बड़ी वेदना होती है। आप विगत ३० वर्षों से कहानी के माध्यम से नारी जाति के उत्थान का प्रयास करती आ रही हैं। आपके दो प्रसिद्ध कहानी-संग्रह 'उन्माद' और 'पिकनिक' नाम से प्रसिद्ध हैं। आपकी भाषा परिमार्जित और शक्तिपूर्ण होती है। छोटे-छोटे वाक्यों और जन सामान्य की बोलचाल की भाषा में आप मानव हृदय की उथल-पुथल का मार्मिकता के साथ वर्णन करती हैं।]

स्वच्छ चाँदनी में बैठना, चकोर की भाँति चन्द्रमा का आवाहन करना, सम्पूर्ण रात्रि नीले आकाश की ओर देखते रहना, दिन-भर फूलों से भरे उद्यान में इधर से उधर विचरना, पुष्पों के सौन्दर्य को देख-देख कर हँसना और तितलियों से अठखेलियाँ करना—मधुरिमा को यही भाता है। इसके सिवा और सारे कार्य उसे बन्धन-स्वरूप प्रतीत होते हैं।

वह प्रातः उषा काल से पहले उठकर उद्यान में चली जाती है, जहाँ उस समय समीर के हलके झोंके, पक्षियों के मधुर कलरव और कुसुमों के सौरभ के सिवा और कुछ जान ही नहीं पड़ता—चारों

और हलकी जादू-भरी अँधियारी का राज्य हो रहा है। मधुरिमा एक ओर निमग्न बैठी रहती है। शीतल समीर उसके शरीर को स्पन्दित करता है, पक्षियों के कलरव की मीठी ध्वनि उसे आह्लादित करती है, पुष्पों की भीनी-भीनी सुगन्धि उसे रोमांचित करती है—मस्त बना देती है, उसका मन किसी अद्वितीय आनन्द से भर जाता है, और सूर्य की गुलाबी रश्मियों के स्पर्श से अन्य फूलों के साथ मधुरिमा भी खिल उठती है।

सुन्दर प्रभात के साथ किसी अनुपम आभा से उसका सौन्दर्य चमक उठता है, रात्रि के साथ ही उसके हृदय की सारी नीरवता विदा हो जाती है, कोई अद्भुत नाद उसकी अन्तरात्मा में कल्लोल करने लगता है, उसके अंग-अंग में चंचलता नाच उठती है। वह फूलों के साथ खिल उठती है, चिड़ियों के साथ चहचहा उठती है, उसके हृदय से भी भ्रमर-लोक का संगीत फूट निकलता है, और वह अपने सुरीले गले से कुछ गुनगुनाने लगती है।

उस समय यदि उद्यान में जाकर कोई देखे, तो उसे मधुरिमा एक खूबसूरत तितली ही की भाँति प्रतीत होती है। उद्यान के प्रत्येक वृक्ष, प्रत्येक पुष्प, प्रत्येक पल्लव से वह परिचित है। संध्या के मिलने के बाद जब तक वह अपने सारे पुष्पों से, सारी कलियों से, एक-एक डाली से भेंट नहीं कर लेती, उसके हृदय का संतोष नहीं होता।

वह भूलती नहीं कि आज किस डाली पर कितनी कलियों का जन्म होने वाला है, कितनी शैशवावस्था में प्रविष्ट होंगी, कितनी खिलकर यौवन के उत्तुंग शिखर पर चढ़ेंगी और कितनी झड़कर मृत्यु की गोद में पहुँच जायँगी। मधुरिमा हर एक से मिलती है, प्रत्येक से सहानुभूति प्रकट करती है। किसी से मौन भाषा में कुछ कह आती है, किसी पर एक तिरछी दृष्टि डाल आती है, किसी को अपनी सुकुमार उँगलियों से स्पर्श कर आती है और किसी की ओर से अपनी गर्दन हिलाती हुई निकल जाती है; मानो कहती

है—'अभी धैर्य रखो, अभी बहुत व्यस्त हूँ फिर आऊँगी।' किसी ओर से आते समय यह 'बहुत काम है' यह भूल ही जाती है, और ठहर कर दोनों हाथों से वल्लरियों को पकड़ कर—अंक में भरकर—बार-बार फूलों को प्यार करती है। किसी के सौन्दर्य पर इतनी मुग्ध हो जाती है कि घंटों निर्निमेष दृष्टि से खड़ी ताका करती है, और किसी के ऊपर कंकड़ी मार कर दूर ही खड़ी रहती है, मानो उससे चुहलबाजी कर रही है—उसका मन अपनी ओर आकर्षित करना चाहती है।

पृथिवी पर पड़े कुम्हलाये पुष्प को देखकर वह व्यग्र हो उठती है, तुरन्त ही उसे उठाकर छाती से लगा लेती है, आँखों से दो बूंद आँसू भी टपका देती है—उसकी ओर निराशापूर्ण दृष्टि से घंटों देखती रहती है।

मधुरिमा का यही काम है, यही उसका परिवार है, यही उसका खेल है और यही उसका सुख।

(२)

मधुरिमा अपने सम्पत्तिशाली माता-पिता की अकेली संतान है। संसार में आराम के जितने भी साधन हो सकते हैं, सब मौजूद हैं, पर मधुरिमा को उद्यान में विचरने के सिवा दूसरा कोई काम नहीं सुहाता। माता-पिता उसकी इस विलक्षण प्रकृति से हैरान हैं। माता का हृदय इस आशंका से काँप उठता है कि वह अँधियारे ही बाग़ में भाग जाती है—कहीं कोई कीड़ा-मकोड़ा न काट ले, वह लताओं के झुरमुट में घुस जाती है, यदि उसमें साँप······

मधुरिमा के लिए माता के वात्सल्य में वह जादू न था, जो उद्यान-निरीक्षण में था। बढ़िया-बढ़िया चमत्कारपूर्ण खिलौनों में वह आकर्षण न था, जो फूलों में था। उसे खेल भी वही पसन्द हैं, जो बाग़ में हों। सखियाँ भी वही पसन्द हैं, जो उस के साथ उद्यान का भ्रमण कर सकें। मधुरिमा सखियों के गले में बाँह डालकर इधर-उधर फुदकने-सी लगती है। "देखो, यह कली आज खिली है, और

वह फूल कल खिला था। वह गुलाब अभी कच्चा है, अभी और बड़ा होगा। अरे ! चलो, चलो, देखो तो, वह काला भौंरा उस खूबसूरत कली का रस पी रहा है, उसे मार कर भगा दूँ।"

सखियाँ इस प्रकार घूमते-घूमते थक जाती हैं, पर मधुरिमा नहीं थकती। कोई सखी कहती—"बहन, मेरे तो यहाँ फिरते-फिरते पैर दुखने लगे, चलो, अब घर बैठकर गुड़ियाँ खेलें।"

मधुरिमा कहती—"न, न, अभी मुझे बहुत काम हैं, अपने बहुत से फूलों को देखना है, उनकी खबरदारी करनी है। तू जानती नहीं बहन, वह सामने वाला मन्दिर का पुजारी बड़ा खराब आदमी है। यहाँ से चली जाऊँगी, तो वह सारे फूल नोंच-खसोट कर अपने ठाकुर पर चढ़ा देगा। और माली, वह फूलों का काम तो करता है, पर यदि मैं चली जाऊँ, तो अभी ढेर से फूल तोड़ कर गुलदस्ता बना डाले ! इसीलिए तो मुझे फुरसत नहीं मिलती।"

मधुरिमा से जिसे बातें करनी हों, वह उद्यान में जाय, फिर तो वह बातों की झड़ी लगा देगी। माता-पिता को भी घण्टों उसके कारण उद्यान में घूमना पड़ता है। घर आकर मधुरिमा को भोजन करना और कपड़ा पहनना भी बन्धन-सा मालूम होता है।

माता कहती—"बेटी, मैं नौकरानी को बाग में भेजे देती हूँ। कोई फूल न तोड़ेगा। तेरे पिताजी ने सबको फूल तोड़ने की मनाही कर दी है। तू भर पेट रोटी तो खा ले।"

मगर मधुरिमा को सन्तोष नहीं होता। वह खाना खाती है, पर उसका ध्यान फुलवारी ही में लगा रहता है। किसी प्रकार माता से छूटते ही वह भाग खड़ी होती है। सदा से ही मधुरिमा का यही ढंग है। जब वह और भी छोटी थी, तब नौकरानियाँ गोद में लेकर फूलों से उसका परिचय कराते-कराते थक जाती थीं। माली को आज्ञा थी कि वह उसके साथ घूम-घूमकर सारे फूलों के नाम उसको बताता जाय। और मधुरिमा तोतली बोली में उन नामों को दोहराती जाती।

नौकरानी थककर पेड़ की छाया में बैठ जाती—"बिटिया रानी, अब तनिक सो जाओ।"

मधुरिमा कहती—"अले हिलिया, तू मेले फूल को 'आ जा ली निंदिया, —आ जा ली निंदिया' कल के छुला आ, मैं नहीं छोती।"

नौकरानी कहती—"अजीब लड़की है।"

(३)

पानी बरसे, या आँधी आये, चाहे जेठ-बैसाख की धूप शरीर को भून डाले, लू के थपेड़े यम के दूत बनकर आ जायँ, पर मधुरिमा से घर नहीं बैठा जाता। जबरन बिठाई जाती है। मूसलाधार वर्षा में उसे बाग़ में कैसे घूमने दिया जाय? हहराती लू में उसका सुकुमार शरीर कुम्हला न जायगा?

मधुरिमा अब ऐसी नादान बच्ची तो नहीं है, जो इतना भी न समझ सके; फिर भी नहीं समझ पाती। वह तो सोचती है—इन फूलों को तो लू नहीं लगती, फिर मुझे क्यों सतायेगी? ये पानी में भीगकर कितने प्रसन्न जान पड़ते हैं, यदि मैं भी इसी प्रकार पानी में भीग सकूँ, तो कैसा आनन्द आवे! और कभी-कभी सब की आँख बचाकर, कभी माँ से नहाने का बहाना करके, वह झंझावात झोंकों के साथ अठखेलियाँ करने चली जाती है। वह फूलों के सुख की थाह-लेना चाहती है।

उस समय वह आनन्द से उन्मत्त-सी हो उठती है, उसकी आँखें हर्ष से चमकने लगती हैं, मन एक प्रकार के उत्साह से भर जाता है और गुलाबी गाल मारे जोश के सुर्ख हो उठते हैं। वह फूलों से छेड़-छाड़ करती हुई चारों ओर हँसती फिरती है, मानो फूलों से कहती है—'आज मैं भी पानी में भीग रही हूँ, हाँ! आज कमरे की खिड़की से तुम्हें देखकर ललचा थोड़े रही हूँ। आज़ाद हूँ—तुम्हारी ही तरह पूरी आज़ाद हूँ।'

मधुरिमा का यह ढंग अब घर वालों को सुखद प्रतीत नहीं होता। माता-पिता रात-दिन चिन्ता में रहते हैं—कैसे उसे राह पर लाया जाय ? ऐसी लड़की तो उन्होंने आज तक न दूसरी देखी, न सुनी ही है। अब बड़ी हो रही है, उसे कुछ पढ़ना-लिखना चाहिए, कुछ सीखना चाहिए, इस तरह कब तक अल्हड़ बनी रहेगी ?

किया भी क्या जाय, "क, ख, ग, मधुरिमा को याद नहीं होता, पंडित जी की कर्कश आवाज और भद्दी शकल से उसे चिढ़ है। फूलों में निमग्न रहने वाली, भ्रमरों का राग सुनने वाली मधुरिमा हारमोनियम वाले मास्टर का गाना पसन्द नहीं करती। सा, रे, ग, म, न उसे अच्छा लगे, न याद हो। वह मास्टर से कहती है—"मास्टर साहब, मेरे तालाब में आजकल खूब कमल खिलते हैं। काले-काले भौंरे उस पर बैठकर बड़ा सुरीला गाना गाते हैं। चलिए, आपको सुना लाऊँ। वैसा गाना क्या आप मुझे सिखा सकेंगे ?"

मास्टर कहता है—'अच्छी ट्यूशन मिली !' करे भी क्या ? बड़े घर की नौकरी है। लड़की के साथ भौंरे का राग सुनने जाना पड़ता है, और मधुरिमा की बातों का उल्टा-सीधा उत्तर देकर बेचारा मास्टर भाग खड़ा होता है।

मधुरिमा आकर कहती है—"पिताजी, मैं इन मास्टर साहब से गाना नहीं सीखूंगी। उन्हें कुछ आता भी है ! उनसे अच्छा तो, कहो मैं गा दूं।

—"हाँ, हाँ, गाओ मधुरिमा, सुनूं कैसा गाती हो।"

मधुरिमा—भ्रमरों का गुनगुनाना जो सीखा है—सुना देती है। यही नहीं, कई चिड़ियों की मधुर आवाज की वह बिलकुल नकल उतार लेती है।

पिता दुलार से उसके गालों को चूम लेता है; पर सोचता है, कहीं इसका दिमाग तो खराब नहीं है। माता कहती है—"बस, बहुत

दुलार हो चुका, जिस तरह भी हो, इसकी पढ़ाई का उपाय करो। आज में इसे अपने सामने बिठा कर पढ़वाऊँगी।"

"हाँ, माताजी, तुम देख लेना, पण्डितजी को पढ़ाना नहीं आता।"

पंडितजी पढ़ाते हैं—"बेटी, कहो, ग से गदहा, घ से घोड़ा।"

मधुरिमा विचार-धारा में भटक जाती है—वही गदहा, जो अक्सर बाग में घुस आता है, कैसी खराब बोली बोलता है—सीपों ! सीपों ! फिर मधुरिमा के लिए हँसी रोकना कठिन हो जाता है, वह खिलखिला कर हँस उठती है। हँसते-हँसते लोट जाती है, और यह कहकर आँधी की तरह भाग खड़ी होती है—"पंडितजी, मैं उस गदहे वाली बात नहीं पढ़ूँगी। जाती हूँ अपने गेंदे के पास।"

पंडितजी क्रुद्ध होकर कहते हैं—"देख लिया आपने ? आपकी लड़की को पढ़ाना असम्भव है। विलक्षण बिटिया है !"

पंडितजी सर खुजलाते चले जाते हैं। माँ माथे पर हाथ रखकर सोचती है—"क्या करूँ ?"

(४)

फूल चाँदनी चुरा रहे थे। मधुरिमा सबकी तलाशी ले रही थी,—कौन फूल अब तक जाग रहा है। मलयानिल को उसी समय हँसी सूझी, वह कोमल कलियों को छेड़ने लगा। सुकुमारता के कारण कहीं किसी की कमर न टूट जाय, इसी चिन्ता में मधुरिमा कलियों पर दृष्टि गड़ाकर खड़ी हो गई। उसी समय उसके कान में अत्यन्त सुरीला राग सुनाई दिया। सब-कुछ भूलकर वह उस राग में तन्मय हो गई।

कौन है यह ? कैसा मनमोहक स्वर है उसकी बाँसुरी का ! इस स्वर में बाँसुरी तो पहले किसी ने न बजाई थी। इसमें तो कोयलों की कूक; चिड़ियों का मधुर कलरव, भ्रमरों का राग—सब-कुछ भरा है। मधुरिमा उन्मत्त-सी हो उठी। बाँसुरी रुकते ही कुमार के पास पहुँच गई; बोली—"तुम बाँसुरी बजाते हो ?"

—"हाँ"

—"मुझे बताओगे, तुम क्या गाते हो ?"

—"फूल-फूल मैंने हरि को देखा, और देखी मैंने फुलवारी ।' मधुरिमा सोचने लगी,—यह भी शायद फूलों को प्यार करता है, तभी तो फूलों का गाना गाता है । वह बोली—"क्या तुम मुझे गाना सिखा सकते हो ?"

—"क्यों नहीं, जरूर सिखा सकता हूँ, मेरा गाना क्या तुम्हें पसन्द है ?"

—"बहुत पसन्द है । चलो, मैं तुम्हें पिताजी के पास ले चलूँ । मैं तुमसे गाना सीखूँगी ।"

कैसी भोली बालिका है; कितनी सुन्दर, कैसी प्यारी और कैसी सुकुमार ! आँखों में कितना आकर्षण है ! कुमार उसकी बात टाल न सका, बोला—"अच्छा चलो ।"

कुमार का हाथ पकड़े मधुरिमा पिता के पास पहुँची—"पिताजी, मैं इनसे गाना सीखूँगी । उन मास्टर साहब को मना कर दो, अब न आवें ।"

पिता ने आँखें ऊपर उठाई—यह तो उनका पड़ोसी नलिनी कुमार है । धनाढ्य का लड़का है । वह मधुरिमा को गाना कैसे सिखायेगा ? वे बोले—"पगली, कुमार को इतनी फुरसत कहाँ है ? पढ़ने-लिखने वाला लड़का है ।"

—"नहीं, मैं इसे अवश्य गाना सिखाया करूँगा । मुझे काम हो गया है ? मेरी कालेज की पढ़ाई इस वर्ष से समाप्त हो गई । पिताजी तो अब आपके पड़ौस ही में आगये हैं न ।"

—"बेटा, यह पढ़ेगी क्या, इसे तो दिन-भर बाग ही से फुरसत नहीं होती ।"

—"जो भी हो, मैं इसे पढ़ा दूँगा ।"

मधुरिमा अधिक खड़ी न रह सकी, कुमार का हाथ पकड़ा और भाग खड़ी हुई। कुमार भी उसके साथ घसिटता चला गया।

(५)

जो मधुरिमा ग से गदहा न पढ़ पाती थी, वह अब गेंदे का ग, चम्पा का च बहुत पीछे छोड़ आई है। वह सुन्दर-सुन्दर कविताएँ लिखकर कुमार को दिखाती है। कुमार चकित हो जाता है—अल्हड़ मधुरिमा ऐसी भावपूर्ण कविता कैसे लिखती है?

और उस अल्हड़पन पर ही कुमार मुग्ध है। उसकी मास्टरी तो अब खत्म हो चुकी। मधुरिमा चाँदनी में बैठकर चन्द्रमा को एकटक देखती और कुमार मधुरिमा को। वह मुग्ध-दृष्टि से फूलों को ताका करती और कुमार उसको; पर मधुरिमा को कुछ खबर ही न होती। जब उसकी यह समाधि टूटती, तो वह आँखों में जाने क्या भरकर उन्मत्त-सी चिल्ला उठती—"कुमार, देखो, यह फूल कितना सुन्दर है!"

कुमार की दृढ़ता का बन्धन ढीला हो जाता, वह उसके दोनों हाथ मुट्ठी में दाबकर उसे कितनी देर तक बिना पलक मारे देखा करता पर फिर भी मधुरिमा फूलों के ध्यान ही में लीन रहती। धीरे-धीरे यह मुट्ठी के बन्धन ढीले कर देता।

कितने ही दिन इसी तरह गुजरते चले गये।

मधुरिमा अब यौवन में पदार्पण कर चुकी है, पर उसे कुछ खबर ही नही। कुमार के हाथ पकड़ने और छोड़ने का अर्थ यह कुछ नहीं समझती। मधुरिमा की यह प्रकृति अब कुमार को भी अच्छी नहीं लगती। वह चाहता है—अब फूलों के सिवा कुछ और बात भी करे, और फूलों की बात छोड़कर मेरी ही बात सोचा करे, मेरे ही ध्यान में मग्न रहे। पर वह देखता है कि उसकी बातें भी अब वह वैसे ध्यान से नहीं सुनती, क्योंकि अब वह बातें फूलों की कहानी नहीं हैं, उसकी कविताएँ अब फूलों की डाली नहीं हैं। और प्रेम की बातें,

जिन्हें मधुरिमा को समझना चाहिए, सुनकर वह कहकहा मारकर हँस देती है। बेचारा कुमार लज्जित होकर आँखें नीची कर लेता है।

एक दिन रिमझिम-रिमझिम पानी बरस रहा था। रात-भर घनघोर वर्षा हुई थी। सारा घर अभी मीठी नींद में मग्न था। अकेली मधुरिमा जागकर उद्यान में पहुँच गई थी। डाली पर दृष्टि पड़ते ही उसका मन नाच उठा। इतना सुन्दर फूल तो आज तक उसने देखा ही नहीं, कैसा खूबसूरत है! देखते ही देखते समीर के एक झोंके ने उसे टहनी से अलग कर दिया। मधुरिमा ने दौड़कर उठा लिया, और प्यार से उसे सहलाते हुए उसने सोचा—'इसे कुमार को उपहार दूँगी।' हलके झोंके के साथ यह विचार मन में आया, और आँधी की भाँति मधुरिमा कुमार के घर भागी।

उसका स्वभाव ही विचित्र है।

कुमार शय्या पर पड़ा मधुरिमा ही की बात सोच रहा था, उसी समय दौड़ती हुई मधुरिमा पहुँची और हाँफती हुई बोली—"कुमार, ऐसा सुन्दर फूल आज तक नहीं खिला था। लो, तुम्हें उपहार देती हूँ।"

कुमार ने दोनों हाथ पकड़कर उसे अपनी ओर खींच लिया—"मेरे इस फूल से यह सुन्दर नहीं है।"

मधुरिमा का मुँह फीका पड़ गया—सारा उत्साह समाप्त हो गया, और वह कुमार के बन्धन से छूटने की चेष्टा करने लगी। दीनता दिखाते हुए बोली—"यह तुमको हो क्या गया है?"

—"कुछ तो नहीं, तुम अपने फूल को प्यार करती हो, और मैं········"

—"पर मुझे यह अच्छा नहीं लगता।"

—"क्यों? क्या मैं तुम्हें अच्छा नहीं लगता?"

—"तुम तो बहुत अच्छे लगते हो।"

—"फिर दूर-दूर क्यों भागती हो, मेरी बातें क्यों नहीं सुनती ?"

मधुरिमा क्या उत्तर दे ? बेबस होकर कुमार के बन्धन में मुंह छुपाये खड़ी रही। वह किसी तरह भी यह नहीं समझ सकती कि कुमार अपने अच्छे न लगने का प्रश्न क्यों उठाता है। कुमार तो उसे सदा से ही बहुत प्यारा है, क्या वह जानता नहीं ? फिर अब ऐसी बातें क्यों करता है ? मधुरिमा कुछ अनुभव तो करती है कि कुमार उससे यही चाहता है; वही नहीं, माता-पिता सभी चाहते हैं कि कुमार से उसका ब्याह हो। विवाह भले ही हो ले, पर इस प्रकार का बन्धन मधुरिमा को असह्य है, उसका जी फड़फड़ाने लगता है। अन्दर ही अन्दर किसी आशंका से वह कांप उठती है।

(६)

मधुरिमा का कुमार के साथ ब्याह हो गया और ब्याह के साथ ही बड़ा भारी परिवर्तन भी।

अब मधुरिमा हर समय चहचहाने वाली चिड़िया—मस्त होकर फुदकने वाली तितली नहीं रही। अब वह गम्भीर हो गई है। कुमार उसका दिल अपने काबू में करके उसे अपनी चकोरी बनाना चाहता है, और फूल उसका दिल चुराकर उसे चमन की बुलबुल बनाया चाहते हैं। मधुरिमा दुविधा में पड़ गई है। वह न कुमार को प्रसन्न कर पाती है, न अब स्वयं प्रसन्न हो पाती है। वह अब नवयौवना युवती है, बच्ची नहीं। सभी उससे कुछ आशा रखते हैं। उसका यह दिन-रात पागल की भाँति फूलों के पीछे पड़ा रहना किसी को नहीं भाता। कहाँ तक कोई उसे नादान बच्ची समझे।

परन्तु मधुरिमा कुछ और ही सोचती है—उसका जो एक इतिहास का इतिहास छिपा पड़ा है, उसे कैसे जाना जाय ? नित्य-प्रति उसके कान में कोई कह जाता है—'बहुत कुछ छिपा है, बहुत-कुछ जानना है।' पुष्प ही नहीं, कोई पुष्पलोक भी है; और पुष्पलोक

ही नहीं, न मालूम क्या-क्या है। है जरूर! मधुरिमा वह सब कुछ जानना चाहती है। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि कोई संसार ही और छिपा पड़ा है। इन पुष्पों में कोई बड़ा रहस्य है, जिसे जानने को उसका मन घुट रहा है, उसका हृदय तड़प रहा है।

वह बात शायद कुमार भी नहीं जानता, तभी तो वह अब इस ओर से चुप है। उसके प्रश्नों का उत्तर अब कुमार के पास नहीं है, इसलिए मधुरिमा अब कुमार से प्रश्नों की झड़ी नहीं लगाती। अपनी कल्पनाशक्ति द्वारा वह बहुत-कुछ जानने की चेष्टा करती है, इसीलिए तो अब वह बहुधा मौन रहती है, घंटों निःशब्द फूलों की ओर ताककर न-जाने क्या सोचा करती है।

वह क्या सोचती है, किसकी चिन्ता करती है, स्वयं भी नहीं जानती—कुछ भी नहीं समझ सकती। कोई रहस्य है—गूढ़ रहस्य है, उसका मर्म मधुरिमा नहीं जानती। परन्तु उस गुत्थी को सुलझाने के लिए उसका मन छटपटाता है, उसका हृदय उत्कट व्याकुलता का अनुभव करता है। वह उन्माद-भरी दृष्टि से सूने आकाश की ओर देखा करती है। उसके हृदय में कोई वेदना उमड़ी पड़ती है, और उसी का करुण क्रन्दन कभी आँसुओं के झरने के रूप में फूट पड़ता है, कभी कविता की धारा में बह निकलता है। वह क्यों तरस रही है? यह उद्भ्रान्त लालसा किस लिए? वह नहीं जान पाती।

वह दिन-पर-दिन मारे चिन्ता के पीली पड़ती जाती है। डाक्टर लोग कहते हैं, उसे बुखार रहता है। उसे प्रसन्न रहना चाहिए, वरना रोग असाध्य हो जायगा। अब कोई उसकी स्वच्छन्दता में बाधा डालने की चेष्टा नहीं करता। कुमार सुन्दर-सुन्दर कविताएँ सुनाता है। पिता नये-नये फूलों के पौदे मँगवाकर लगवाते हैं; परन्तु मधुरिमा की चिन्ता नहीं छूटती, कुछ अन्तर नहीं आता। वह दिन-पर-दिन घुलती ही जाती है।

कुमार हर समय उसे उद्यान में ही लिये बैठा रहता है, उसे प्रसन्न करने को कुछ उठा नहीं रखता; पर फिर भी वे पहले के दिन लौटते नहीं। साथ ही उसे रोग से कुछ कष्ट भी नहीं है। वह कहती है—"तुम मुफ्त में चिन्ता क्यों करते हो? मुझे क्या हुआ है? डाक्टर व्यर्थ ही मुझे बीमार बताते हैं! मैं अच्छी हूँ।"

डाक्टर पूछता है—"बुखार से तबियत घबराती है?"

मधुरिमा कहती है—"नहीं।"

"सर में दर्द रहता है?"

"नहीं।"

"कमजोरी मालूम होती है!"

"नहीं।"

"कुछ और तकलीफ है?"

"कुछ नहीं।"

कुछ कष्ट न होने पर भी वह हँसती नहीं है। कुमार बड़ी आशा से कविता पढ़ने बैठता है कि इस बार तो मधुरिमा अवश्य हँस देगी; किन्तु पूरी कविता समाप्त हो जाती है, मधुरिमा मौन रहती है। कमार आँखे उठाकर देखता है। अरे, क्या व्यर्थ ही पढ़ रहा है! मधुरिमा तो किसी और ही ध्यान में डूबी है।

सब लोग हैरान हैं, क्या उपाय किया जाय? उसे हो क्या गया है? आखिर यह रोग क्या है?

(७)

डाक्टर कहते हैं, उसकी हालत अब बहुत ही नाजुक है; मगर इधर कुछ दिनों से मधुरिमा में फिर परिवर्तन हो रहा है। अब वह कुछ प्रसन्न रहती है। डाक्टर भले ही न कहें, घर वाले तो समझते हैं—वह अच्छी हो रही है। देखो, उसके मुँह पर पहली-सी आभा फिर आ रही है। आँखें जो गड्ढे में घुस गई थीं, उनमें अब ज्योति मालूम होती है। गालों पर कुछ सुर्खी आ रही है। अब वह घण्टों कुमार से हँस-हँसकर बातें करती है।

मधुरिमा वास्तव में अब प्रसन्न है। उसे ऐसा मालूम होता है कि वह अब सब-कुछ जानने ही वाली है; वह समय समीप है, जब उसके कान में कोई कुछ फूंक देगा। वह जान जायगी—मैं काहे को तरसती हूँ—यह उद्भ्रान्त लालसा, यह उत्कट वेदना किस लिए है।

जैसे-जैसे समय बीतता जाता है, उसका हृदय आनन्द के आवेग से उछला पड़ता है, उत्साह से भरा जाता है।

(८)

एक दिन, पूर्णिमा को रात्रि थी, मधुरिमा ने कहा—"मेरा पलंग चांदनी में फूलों के पास बिछा दो, और कुमार, तुम एक अच्छी-सी कविता सुना दो। आज मैं बहुत अच्छी हूँ, शरीर में बड़ी स्फूर्ति है। आँखें मीचकर लेटने को जी चाहता है।"

सब लोग शान्त हो गये; कुमार धीरे-धीरे कविता पढ़ने लगा; माता पंखा झलने लगी। मधुरिमा को नींद आ रही है। वह नींद में कुछ बुदबुदाने लगी—"वह देखो, फूलों के गुच्छे मेरी ओर उड़े आ रहे हैं। पवन उन्हें उड़ाये ला रहा है। वह चले ही आ रहे हैं।"

सब लोग स्तब्ध हो गये। मधुरिमा सो रही है, स्वप्न देख रही है।

"कैसा सुखद समीर है···मनमोहक सुरभि है···मनोहर संगीत है···मैं भी उड़ रही हूँ! फूलों के साथ चली जा रही हूँ—चली ही जा रही हूँ।"

मधुरिमा शान्त हो गई। उसका बुदबुदाना बन्द हो गया। अब उसका मस्तिष्क शान्त है। वह मीठी नींद सो रही है।

उसी समय डाक्टर ने आकर नाड़ी देखी—"सेठजी, कितनी देर से···"

"क्या ? क्या हुआ ? मेरी मधुरिमा सो रही है न ?"

कुमार के हाथ से कविता छूट पड़ी "हाय ! मेरा फूल किधर उड़ गया !"

माँ कहती है—"मेरी बच्ची को क्या हुआ !"

पिता कहता है—"मेरी मधुरिमा तो अच्छी हो रही थी !"

अकबरी लोटा

अन्नपूर्णानन्द वर्म्मा

[जीवन-परिचय—अन्नपूर्णानन्द जी वाराणसी के निवासी हैं। काशी के साहित्यिक वातावरण में पालन-पोषण होने के कारण और साहित्य की स्वाभाविक क्षमता के बल पर आपका साहित्य सृजन प्रशंसनीय माना जाता है। हिन्दी की हास्य प्रधान कहानियों के लेखकों में आपका उच्च स्थान है। आप अपनी कला कुशलता के बल से हास्य को शिष्टता की कोटि से कभी नीचे नहीं गिरने देते। समाज में विद्यमान दोषों को हास्य रस में आप्लुत कर वे कहानियों को अत्यन्त रमणीय बना देते हैं। आपकी कहानियों के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें 'मेरी हजामत', 'मगन रहु चोला' अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।]

लाला झाऊलाल को खाने-पीने की कमी नहीं थी। काशी के ठठेरी बाजार में मकान था। नीचे की दूकानों से एक सौ रुपये मासिक के क़रीब किराया उतर आता था। कच्चे-बच्चे अभी थे नहीं, सिर्फ दो प्राणी का खर्च था। अच्छा खाते थे, अच्छा पहनते थे। पर ढाई सौ रुपये तो एक साथ आँख सेकने के लिए भी न मिलते थे।

इसलिए जब उनकी पत्नी ने एक दिन यकायक ढाई सौ रुपये की माँग पेश की तब उनका जी एक बार जोर से सनसनाया और फिर बैठ गया। जान पड़ा कि कोई बुल्ला है जो बिलाने जा रहा है। उनकी यह दशा देख कर उनकी पत्नी ने कहा—"डरिये मत, आप देने में असमर्थ हों तो मैं अपने भाई से माँग लूँ।"

लाला झाऊमल इस मीठी मार से तिलमिला उठे। उन्होंने किंचित रौब के साथ कहा—"अजी हटो ! ढाई सौ रुपये के लिए भाई से भीख माँगोगी ? मुझसे ले लेना।"

"लेकिन मुझे इसी जिन्दगी में चाहिएं।"

"अजी इसी सप्ताह में ले लेना।"

"सप्ताह से आपका तात्पर्य सात दिन से है या सात वर्ष से ?"

लाला झाऊलाल ने रौब के साथ खड़े होते हुए कहा—"आज से सातवें दिन ढाई सौ रुपये ले लेना।"

"मर्द की एक बात।"

"हाँ जी, हाँ ! मर्द की एक बात।"

लेकिन जब चार दिन ज्यों-त्यों में यों ही बीत गये और रुपयों का कोई प्रबन्ध न हो सका, तब उसे चिन्ता होने लगी। प्रश्न अपनी प्रतिष्ठा का था, अपने ही घर में अपनी ही साख का था। देने का पक्का वादा करके अगर अब न दे सके तो अपने मन में वह क्या सोचेगी ? उसकी नजरों में उनका क्या मूल्य रह जायगा ? अपनी वाह-वाही की सैंकड़ों गाथाएँ उसे सुना चुके थे। अब जो एक काम पड़ा तो चारों खाने चित्त हो रहे। यह पहली बार उसने मुँह खोलकर कुछ रुपयों का सवाल किया था। इस समय अगर वे दुम दबाकर निकल भागते हैं तो फिर उसे क्या मुँह दिखलायेंगे ? मर्द की एक बात—यह उसका फ़िकरा उनके कानों में गूँज-गूँज कर फिर गूँज उठता था।

खैर, एक दिन और बीता। पाँचवें दिन घबराकर उन्होंने पं० बिलवासी मिश्र को अपनी विपदा सुनाई। संयोग कुछ ऐसा बिगड़ा था कि बिलवासी जी भी उस समय बिल्कुल खुश्क थे। उन्होंने कहा कि मेरे पास हैं तो नहीं पर मैं कहीं से माँग जाँच कर लाने की कोशिश करूँगा और अगर मिल गए तो कल शाम को तुमसे मकान पर मिलूँगा।

यही शाम आज थी। हफ्ते का अन्तिम दिन। कल ढाई सौ रुपया

या तो गिन देना है या सारी हेकड़ी से हाथ धोना है। यह सच है कि कल रुपया न पाने पर उनकी स्त्री उन्हें डामल फाँसी न कर देगी—केवल ज़रा-सा हँस देगी। पर वह कैसी हँसी होगी। इस हँसी की कल्पना मात्र से लाला झाऊलाल की अन्तरात्मा में मरोड़ पैदा हो जाती थी।

अभी पं० विलवासी मिश्र भी नहीं आये। आज शाम को उनके आने की बात थी। उन्हीं का भरोसा था। यदि न आये तो? या कहीं रुपये का प्रबंध वे न कर सके तो?

इसी उधेड़-बुन में पड़े हुए लाला झाऊलाल छत पर टहल रहे थे। कुछ प्यास मालूम पड़ी। उन्होंने नौकर को आवाज़ दी। नौकर नहीं था। खुद उनकी पत्नी पानी लेकर आईं। आप जानते ही हैं कि हिन्दू-समाज में स्त्रियों की कैसी शोचनीय अवस्था है। पति नालायक को प्यास लगती है तो स्त्री बेचारी को पानी लेकर हाजिर होना पड़ता है।

वे पानी तो जरूर लाईं पर गिलास लाना भूल गईं थीं। केवल लोटे में पानी लिए हुए वे प्रकट हुईं, फिर लोटा भी संयोग से वह जो अपनी बेढंगी सूरत के कारण लाला झाऊलाल को सदा से नापसंद था। था तो नया, साल ही दो साल का बना, पर कुछ ऐसी गढ़न उस लोटे की थी कि जैसा उसका बाप डमरू, माँ चिलमची रही हो।

लाला झाऊलाल ने लोटा ले लिया, वे बोल कुछ नहीं, अपनी पत्नी का वे अदब मानते थे। मानना ही चाहिए। इसी को सभ्यता कहते हैं। जो पति अपनी पत्नी की पत्नी न हुआ वह पति कैसा? फिर उन्होंने यह भी सोचा होगा कि लोटे में पानी हो तब भी ग़नीमत है। अभी अगर चूं कर देता हूँ तो बाल्टी में जब भोजन मिलेगा तब क्या करना बाकी रह जायगा।

लाला झाऊलाल अपना गुस्सा पीकर पानी पीने लगे। उस समय वे छत की मुंडेर के पास खड़े थे। जिन बुजुर्गों ने पानी पीने के

सम्बन्ध में यह नियम बनाये थे कि खड़े-खड़े पानी न पियो, सोते समय पानी न पियो, दौड़ने के बाद पानी न पियो, उन्होंने पता नहीं कभी यह नियम भी बनाया था या नहीं कि छत की मुंडेर के पास खड़े होकर पानी न पियो। जान पड़ता है इस महत्वपूर्ण विषय पर उन लोगों ने कुछ नहीं कहा है।

इसलिए लाला झाऊलाल ने कोई बुराई नहीं की। अगर वे छत की मुंडेर के पास खड़े होकर पानी पीने लगे। पर मुश्किल से दो-एक घूंट वे पी पाये होंगे कि न जाने कैसे उनका हाथ हिल उठा और लोटा हाथ से छूट गया।

लोटे ने दाहिने देखा न बाँयें। वह नीचे गली की ओर चल पड़ा। अपने वेग में उल्का को लजाता हुआ आँखों से ओझल हो गया। किसी जमाने में न्यूटन नाम के किसी खुराफ़ाती ने पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति नाम की एक चीज ईजाद की थी। कहना न होगा कि यह सारी शक्ति इस समय इस लोटे के पक्ष में थी।

लाला झाऊलाल को काटो तो बदन में खून नहीं। ठठेरी बाजार ऐसी चलती हुई गली में, ऊँचे तिमंजले से, भरे हुए लोटे का गिरना हँसी-खेल नहीं है। यह लोटा न जाने किस अनधिकारी के खोपड़े पर काशी-वास का संदेशा लेकर पहुँचेगा।

कुछ हुआ भी ऐसा ही। गली में जोर का हल्ला उठा। लाला झाऊलाल जब तक दौड़कर नीचे उतरे तब तक एक भारी भीड़ उनके आँगन में घुस आई।

लाला झाऊलाल ने देखा कि इस भीड़ म प्रधान-पात्र एक अंगरेज है जो नखशिख से भीगा हुआ है और अपने एक पैर को हाथ से सहलाता हुआ दूसरे पैर पर नाच रहा है। उसी के पास उस अपराधी लोटे को देखकर लाला झाऊलाल जी ने फौरन दो और दो जोड़कर स्थिति को समझ लिया। पूरा विवरण तो उन्हें पीछे प्राप्त हुआ।

हुआ यह था कि गली में गिरने के पूर्व लोटा एक दूकान के सायबान से टकराया। वहाँ टकराकर उस दूकान पर खड़े उस अँगरेज को उसने सांगोपांग स्नान कराया और फिर उसी के बूट पर जा गिरा। ध्यान देने की बात है कि हिन्दुस्तानी लोटा भी आखिर वहीं गिरा जहाँ हिन्दुस्तानी आदमी गिरते हैं।

उस अँगरेज को जब मालूम हुआ कि लाला झाऊलाल ही उस लोटे के मालिक हैं तब उसने केवल एक काम किया। अपने मुँह को उसने खोल-खोल कर खुला छोड़ दिया। लाला झाऊलाल को आज ही यह मालूम हुआ कि अँगरेजी भाषा में गालियों का ऐसा प्रकाण्ड कोष है।

इसी समय पं० बिलवासी मिश्र भीड़ को चीरते हुए आँगन में आते दिखाई पड़े। उन्होंने आते ही पहला काम यह किया कि उस अँगरेज को छोड़कर और जितने आदमी आँगन में घुस आये थे सबको निकाल बाहर किया। फिर एक कुर्सी आँगन में रखकर उन्होंने साहब से कहा —"आपके पैर में शायद कुछ चोट आ गई है। आप आराम से कुर्सी पर बैठ जाइये।"

साहब बिलवासी जी को धन्यवाद देते हुए बैठ गये। और लाला झाऊलाल की ओर इशारा करके बोले—"आप इस शख्स को जानते हैं?"

"बिलकुल नहीं। और मैं ऐसे आदमी को जानना भी नहीं चाहता जो निरीह राह चलतों पर लोटे से वार करे।"

"मेरी समझ में He is a dangerous lunatic!" [यानी यह एक खतरनाक पागल है।]

"नहीं मेरी समझ में He is a dangerous criminal!" [नहीं यह खतरनाक मुजरिम है।]

परमात्मा ने लाला झाऊलाल की आँखों को इस समय कहीं देखने के साथ खाने की भी शक्ति दे दी होती तो यह निश्चय था कि अब तक

बिलवासी जी को वे अपनी आँखों से खा चुके होते। वे कुछ समझ नहीं पाते थे कि बिलवासी जी को उस समय हो क्या गया है।

साहब ने बिलवासी जी से पूछा—"तो अब क्या करना चाहिए?"

"पुलिस में इस मामले की रिपोर्ट कर दीजिये, जिससे यह आदमी फौरन हिरासत में ले लिया जाय।"

"पुलिस स्टेशन है कहाँ?"

"पास ही है, चलिए मैं बतलाऊँ।"

"चलिए।"

"अभी चला। आपकी इजाजत हो तो पहले मैं इस लोटे को इस आदमी से खरीद लूँ। क्यों जी, बेचोगे? मैं पचास रुपये तक इसके दाम दे सकता हूँ।"

लाला झाऊलाल तो चुप रहे पर साहब ने पूछा—"इस रद्दी लोटे का आप पचास रुपये दाम क्यों दे रहे हैं?"

"आप इस लोटे को रद्दी बताते हैं? आश्चर्य! मैं तो आपको एक विज्ञ और सुशिक्षित आदमी समझता था।"

"आखिर बात क्या है कुछ बताइये भी?"

"यह जनाब! एक ऐतिहासिक लोटा जान पड़ता है। जान क्या पड़ता है मुझे पूरा विश्वास है कि यह वह प्रसिद्ध अकबरी लोटा है जिसकी तलाश में संसार भर के म्युजियम वाले परेशान हैं।"

"यह बात!"

"जी हाँ जनाब! सोलहवीं शताब्दी की बात है। बादशाह हुमायूँ शेरशाह से हारकर भागा था और सिंध के रेगिस्तान में मारा-मारा फिर रहा था। एक अवसर पर प्यास से उसकी जान निकल रही थी। उस समय एक ब्राह्मण ने इसी लोटे से पानी पिलाकर उसकी जान बचाई थी। हुमायूँ के बाद जब अकबर दिल्लीश्वर हुआ तब उसने उस ब्राह्मण का पता लगाकर उससे इस लोटे को ले लिया और इसके बदले

में उसे इसी प्रकार के दस सोने के लोटे प्रदान किये । यह लोटा सम्राट् अकबर को बहुत प्यारा था । इसी से इसका नाम अकबरी लोटा पड़ा । वह बराबर इसी से वज़ू करता था । सन् ५७ तक इसके शाही घराने में ही रहने का पता है । पर इसके बाद लापता हो गया । कलकत्ते के म्यूजियम में इसका प्लास्टर का मॉडल रक्खा हुआ है । पता नहीं यह लोटा इस आदमी के पास कैसे आया ! म्यूजियम वालों को पता चले तो फ़ैंसी दाम देकर खरीद ले जायें ।"

इस विवरण को सुनते-सुनते साहब की आँखों पर लोभ और आश्चर्य का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे कौड़ी के आकार से बढ़कर पकौड़ी के आकार की हो गईं । उसने बिलवासी जी से पूछा—"तो आप इस का लेकर क्या करियेगा ?"

"मुझे पुरानी और ऐतिहासिक चीजों के संग्रह करने का शौक है ।"

"मुझे भी पुरानी और ऐतिहासिक चीजों के संग्रह करने का शौक है । जिस समय यह लोटा मेरे ऊपर गिरा उस समय मैं यही कर रहा था । उस दूकान पर से पीतल की कुछ पुरानी मूर्तियाँ खरीद रहा था ।"

'जो कुछ हो लोटा मैं ही खरीदूँगा ।"

"वाह आप कैसे खरीदेंगे ? मैं खरीदूँगा । मेरा हक है ।"

"हक है ?"

"ज़रूर हक है । यह बताइये कि उस लोटे के पानी से आपने स्नान किया या मैंने ?"

"आपने ।"

"वह आपके पैरों पर गिरा या मेरे ।"

"आपके ।"

"अँगूठा उसने आपका भुरता किया या मेरा ?"

"आपका ।"

"इसलिए उसे खरीदने का हक मेरा है।"

"यह सब झोल है। दाम लगाइये, जो अधिक दे वह ले जाय।"

"यही सही। आप इसका पचास रुपया लगा रहे थे, मैं सौ देता हूँ।"

"मैं डेढ़ सौ देता हूँ।"

"मैं दो सौ देता हूँ।"

"अजी मैं ढाई सौ देता हूँ।" यह कहकर विलवासी जी ने ढाई सौ के नोट लाला झाऊलाल के आगे फेंक दिये।

साहब को भी अब ताव आ गया। उसने कहा—" आप ढाई सौ देते हैं तो मैं पाँच सौ देता हूँ। अब चलिये ?"

विलवासी जी अफसोस के साथ रुपये उठाने लगे, मानो अपनी आशाओं की लाश उठा रहे हों। साहब की ओर देखकर उन्होंने कहा—

"लोटा आपका हुआ, ले जाइए। मेरे पास ढाई सौ से अधिक हैं नहीं।"

यह सुनना था कि साहब के चेहरे पर प्रसन्नता की कूँची फिर गई। उसने झपटकर लोटा उठा लिया और बोला—"अब मैं हंसता हुआ अपने देश लौटूँगा। मेजर डगलस की डीग सुनते-सुनते मेरे कान पक गये हैं।"

"मेजर डगलस कौन है ?"

"मेजर डगलस मेरे पड़ोसी हैं। पुरानी चीजों के संग्रह करने में मेरी उनकी दौड़ रहती है। गत वर्ष वे हिन्दुस्तान आये थे और यहाँ से 'जहाँगीरी अण्डा' ले गये थे। 'जहाँगीरी अण्डा' 'जहाँगीरी अण्डा।' मेजर डगलस ने समझ रक्खा था कि हिन्दुस्तान से वे ही अच्छी चीज ले जा सकते हैं ?"

"पर जहाँगीरी अण्डा है क्या ?"

"आप जानते होंगे कि एक कबूतर ने नूरजहाँ से जहाँगीर का प्रेम कराया था। जहाँगीर के पूछने पर कि मेरा एक कबूतर तुमने कैसे

उड़ जाने दिया, नूरजहाँ ने उसके दूसरे कबूतर को भी उड़ा कर बताया था कि ऐसे । उसके इसी भोलेपन पर जहाँगीर सौ जान से निछावर हो गया । उसी क्षण से उसने अपने को नूरजहाँ के हाथ बय कर दिया । कबूतर का ऐहसान वह नहीं भूला । उसके एक अण्डे को बड़े जतन से रख छोड़ा । एक बिलौर की हाँडी में वह उसके सामने सदा टँगा रहता था । बाद में वही अण्डा 'जहाँगीरी अण्डे' के नाम से प्रसिद्ध हुआ । उसी को मेजर डगलस ने पारसाल दिल्ली में एक मुसलमान सज्जन से तीन सौ रुपये में खरीदा था ।"

"यह बात !"

"हाँ, पर अब वे मेरे आगे दून की नहीं ले सकते । मेरा अकबरी लोटा उनके जहाँगीरी अण्डे से भी एक पुश्त पुराना है ।"

"इस रिश्ते से तो आपका लोटा उस अण्डे का बाप हुआ ।"

साहब ने लाला झाऊलाल को पाँच सौ रुपये देकर अपनी राह ली । लाला झाऊलाल का चेहरा इस समय देखते बनता था । जान पड़ता था कि मुँह पर छः दिन की बढ़ी हुई दाढ़ी के एक-एक बाल मारे प्रसन्नता के लहरा रहे हैं । उन्होंने पूछा—"बिलवासी जी ! आप मेरे लिये ढाई सौ रुपया घर से लेकर चले थे ? पर आपके पास तो था नहीं ।"

"इस भेद को मेरे सिवाय मेरा ईश्वर भी जानता है । आप उसी से पूछ लीजिये । मैं नहीं बताऊँगा ।"

"पर आप चले कहाँ ? अभी मुझे आपसे काम है; दो घण्टे तक ।"

"दो घण्टे तक ?"

"हाँ और क्या ? अभी मैं आपकी पीठ ठोंक कर शाबाशी दूँगा; एक घण्टा इसमें लगेगा फिर गले लगा कर धन्यवाद दूँगा; एक घण्टा इसमें भी लग जायगा ।"

"अच्छा पहले आप पाँच सौ रुपये गिन कर सहेज लीजिये।"

रुपया अगर अपना हो तो उसे सहेजना एक ऐसा सुखद और सम्मोहक कार्य है कि मनुष्य उस समय सहज में ही तन्मयता प्राप्त कर लेता है। लाला झाऊलाल ने अपना कार्य समाप्त करके ऊपर देखा। पर विलवासी जी इस बीच अन्तर्द्धान हो गये थे।

वे लम्बे डग मारते हुए गली में चले जा रहे थे।

उस दिन रात्रि में विलवासी जी को देर तक नींद नहीं आई। वे चादर लपेटे चारपाई पर पड़े रहे। एक बजे वे उठे। धीरे से, बहुत धीरे से, अपनी सोई हुई पत्नी के गले से उन्होंने सोने की वह सिकड़ी निकाली जिसमें एक ताली बँधी हुई थी। फिर उसके कमरे में जाकर उन्होंने उस ताली से सन्दूक खोला। उसमे ढाई सौ के नोट ज्यों के त्यों रखकर उन्होंने उसे बन्द कर दिया। फिर दबे पाँव लौटकर ताली को उन्होंने पूर्ववत् अपनी पत्नी के गले में डाल दिया। इसके बाद उन्होंने हँस कर अँगड़ाई ली, अँगड़ाई लेकर लेट रहे, और लेटकर मर गये।

दूसरे दिन सुबह आठ बजे तक वे मरे रहे।

शरणागत

श्री वृन्दावन लाल वर्म्मा

[जीवन-परिचय—श्री वृन्दावन लाल वर्मा जी का जन्म झाँसी नगर में सन् १८६७ ई० में हुआ। आपने उच्च शिक्षा प्राप्त की और आजकल झाँसी में ही वकालत कर रहे हैं। आपका साहित्य के प्रति असीम अनुराग रहा है। हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासकारों में आपका स्थान मूर्धन्य है। वस्तुतः हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यासों को यथार्थ रूप देने वाले वर्म्मा जी ही हैं। विराटा की पद्मिनी और गढ़-कुण्डार नामक प्रारम्भिक रचनाओं से ही आपने हिन्दी साहित्य में अपना प्रतिष्ठित स्थान बना लिया था। अब तक आप लगभग डेढ़-दर्जन उपन्यास और पचास से अधिक कहानियाँ लिख चुके हैं।

वर्म्मा जी की कथा कहने की शैली बहुत ही सुबोध एवं सरल है। भाषा में कृत्रिमता का अंश बिलकुल दिखाई नहीं पड़ता। आपकी अधिकांश रचनायें इतिहास से ही सम्बन्धित हैं। इन रचनाओं में आपने देशकाल के उपयुक्त वातावरण के निर्माण का प्रयास किया है इसीलिए इन रचनाओं में अतीत मानो पुनः सजीव हो गया है। बुन्देलखण्ड का इतिहास ही आपकी रोमान्सप्रिय कल्पना को अधिक रुचा है। कहानी, उपन्यास एवं नाटकों में इस 'भूभाग' का जितना सटीक एवं सजीव चित्रण हुआ है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

अहिल्याबाई, मृगनयनी, टूटे कांटे, झांसी की रानी आदि इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। ऐतिहासिकता की दृष्टि से हिन्दी साहित्य में

आपका व्यक्तित्व एक विशेष महत्व रखता है। आप अभी सतत रूप से रचना कर रहे हैं और हिन्दी जगत को आपसे कई अन्य परिष्कृत रचनायें प्राप्त करने की आशा है।]

रज्जब कसाई अपना रोजगार करके ललितपुर लौट रहा था। साथ में स्त्री थी और गाँठ में दो सौ-तीन सौ की बड़ी रकम। मार्ग बीहड़ था, और सुनसान भी। ललितपुर काफी दूर था, बसेरा कहीं न कहीं लेना ही था, इसलिये उसने मड़पुरा नामक गाँव में ठहर जाने का निश्चय किया। उसकी पत्नी को बुखार हो आया था, रकम पास में कम थी, और बैलगाड़ी किराए पर करने में खर्च ज्यादा पड़ता, इसलिये रज्जब ने उस रात आराम कर लेना ही ठीक समझा।

परन्तु ठहरता कहाँ ? जात छिपाने से काम नहीं चल सकता था। उसकी पत्नी नाक और कानों में चाँदी की बालियां डाले थी, और पैजामा पहने थी। इसके सिवा गाँव के बहुत से लोग उसको पहचानते भी थे। वह उस गाँव के बहुत से कर्मण्य और अकर्मण्य ढोर खरीद कर ले जा चुका था।

अपने व्यवहारियों से उसने रात भर के बसेरे के लायक स्थान की याचना की। किसी ने भी मंजूर न किया। उन लोगों ने अपने ढोर रज्जब को अलग-अलग और लुके-छिपे बेचे थे। ठहराने में तुरन्त ही तरह-तरह की खबरें फैलतीं, इसलिए सबों ने इन्कार कर दिया।

गाँव में एक ग़रीब ठाकुर रहता था। थोड़ी सी जमीन थी, जिसको किसान जोते हुए थे। जिनका हल बैल कुछ भी न था। लेकिन अपने किसानों से दो-तीन साल का पेशगी लगान वसूल कर लेने में ठाकुर को किसी विशेष बाधा का सामना नहीं करना पड़ता था। छोटा सा मकान था, परन्तु उसको गाँव वाले गढ़ी के आदर व्यंजक शब्द से पुकारा करते थे, और ठाकुर को डर के मारे 'राजा' शब्द से सम्बोधन करते थे।

शामत का मारा रज्जब इसी ठाकुर के दरवाजे पर अपनी ज्वर-ग्रस्त पत्नी को लेकर पहुँचा।

ठाकुर पौर में बैठा हुक्का पी रहा था। रज्जब ने बाहर से ही सलाम करके कहा—"दाऊजू, एक विनती है।"

ठाकुर ने बिना एक रत्ती भर इधर-उधर हिले-डुले पूछा—"क्या ?"

रज्जब बोला—"मैं दूर से आ रहा हूँ। बहुत थका हुआ हूँ। मेरी औरत को जोर से बुखार आ गया है। जाड़े में बाहर रहने से न जाने इसकी क्या हालत हो जायगी, इसलिए रात भर के लिये कहीं दो हाथ जगह दे दी जाय।"

"कौन लोग हो ?" ठाकुर ने प्रश्न किया।

"हूँ तो कसाई।" रज्जब ने सीधा उत्तर दिया। चेहरे पर उसके बहुत गिड़गिड़ाहट थी।

ठाकुर की बड़ी-बड़ी आँखों में कठोरता छा गई। बोला—"जानता है यह किसका घर है। यहाँ तक आने की हिम्मत कैसे की तूने ?"

रज्जब ने आशा भरे स्वर में कहा—"यह राजा का घर है, इसीलिए शरण में आया हुआ हूँ।"

तुरन्त ठाकुर की आँखों की कठोरता गायब हो गई। जरा नरम स्वर में बोला—"किसी ने तुम को बसेरा नहीं दिया ?"

"नहीं महाराज", रज्जब ने उत्तर दिया—"बहुत कोशिश की, परन्तु मेरे खोटे पेशे के कारण कोई सीधा नहीं हुआ।" और वह दरवाजे के बाहर ही एक कोने से चिपटकर बैठ गया। पीछे उसकी पत्नी कराहती, काँपती हुई गठरी-सी बन कर सिमट गई।

ठाकुर ने कहा—"तुम अपनी चिलम लिये हो ?"

"हाँ, सरकार !" रज्जब ने उत्तर दिया।

ठाकुर बोला—"तब भीतर आ जाओ, और तमाखू अपनी चिलम से पी लो। अपनी औरत को भीतर कर लो। हमारी पौर के एक कोने में पड़े रहना।"

जब वे दोनों भीतर आ गए तो ठाकुर ने पूछा—"तुम कब यहाँ से उठ कर चले जाओगे ?" जवाब मिला—"अँधेरे में ही महाराज ! खाने के लिए रोटियाँ बाँधे हूँ इसलिए पकाने की जरूरत न पड़ेगी।"

"तुम्हारा नाम ?"

"रज्जब।"

× × ×

थोड़ी देर बाद ठाकुर ने रज्जब से पूछा—"कहाँ से आ रहे हो ?" रज्जब ने स्थान का नाम बतलाया।

"वहाँ किस लिए गए थे ?"

"अपने रोजगार के लिए।"

"काम तो तुम्हारा बहुत बुरा है।"

"क्या करूँ, पेट के लिये करना ही पड़ता है। परमात्मा ने जिसके लिए जो रोजगार नियत किया है, वही उसको करना पड़ता है।"

"क्या नफ़ा हुआ ?" प्रश्न करने में ठाकुर को जरा संकोच हुआ, और प्रश्न का उत्तर देने में रज्जब को उससे बढ़कर।

रज्जब ने जवाब दिया—"महाराज पेट के लायक कुछ मिल गया है। यों ही।" ठाकुर ने इस पर कोई जिद नहीं की।

रज्जब एक-क्षण बाद बोला—"बड़े भोर उठकर चला जाऊँगा। तब तक स्त्री की तबियत भी अच्छी हो जायगी।"

इसके बाद दिन भर के थके हुए पति-पत्नी सो गए। काफी रात गए कुछ लोगों ने एक बँधे इशारे से ठाकुर को बाहर बुलाया। एक फटी-सी रजाई ओढ़ ठाकुर बाहर निकल आया।

आगन्तुकों में से एक ने धीरे से कहा—'दाऊजू, आज तो खाली हाथ लौटे हैं। कल संध्या का सगुन बैठा है।"

ठाकुर ने कहा—"आज जरूरत थी। खैर, कल देखा जायगा। क्या कोई उपाय किया था ?"

"हाँ" आगन्तुक बोला—"एक कसाई रुपये की मोट बाँधे इसी ओर आया है। परन्तु हम लोग ज़रा देर में पहुँचे। वह खिसक गया। कल देखेंगे। ज़रा जल्दी।"

ठाकुर ने घृणा-सूचक स्वर में कहा—"कसाई का पैसा छुएँगे!"

"क्यों?"

"बुरी कमाई है।"

"उसके रुपयों पर कसाई थोड़े ही लिखा है।"

"परन्तु उसके व्यवसाय से वह रुपया दूषित हो गया है।"

"रुपया तो दूसरों का ही है। कसाई के हाथ आने से रुपया कसाई नहीं हुआ।"

"मेरा मन नहीं मानता, वह अशुद्ध है।"

"हम अपनी तलवार से उसको शुद्ध कर लेंगे।"

ज्यादा बहस नहीं हुई। ठाकुर ने सोचकर अपने साथियों को बाहर का बाहर ही टाल दिया।

भीतर देखा, कसाई सो रहा था, और उसकी पत्नी भी।

ठाकुर भी सो गया।

× × × ×

सवेरा हो गया, परन्तु रज्जब न जा सका। उसकी पत्नी का बुखार तो हल्का हो गया था, परन्तु शरीर भर में पीड़ा थी, और वह एक कदम भी नहीं चल सकती थी।

ठाकुर उसे वहीं ठहरा हुआ देखकर कुपित हो गया। रज्जब से बोला—"मैंने खूब मेहमान इकट्ठे किए हे। गाँव भर थोड़ी देर में तुम लोगों को मेरी पौर में टिका हुआ देखकर तरह-तरह की बकवास करेगा। तुम बाहर जाओ। इसी समय।"

रज्जब ने बहुत विनती की, परन्तु ठाकुर न माना। यद्यपि गाँव भर उसके दबदबे को मानता था, परन्तु अव्यक्त लोकमत का दबदबा उसके भी मन पर था। इसलिए रज्जब गाँव के बाहर सपत्नीक एक

पेड़ के नीचे जा बैठा, और हिन्दू मात्र को मन-ही-मन कोसने लगा।

उसे आशा थी कि पहर-आध पहर में उसकी पत्नी की तबियत इतनी स्वस्थ हो जायगी कि वह पैदल यात्रा कर सकेगी। परन्तु ऐसा न हुआ, तब उसने एक गाड़ी किराये पर कर लेने का निर्णय किया।

मुश्किल से एक चमार काफी किराया लेकर ललितपुर गाड़ी ले जाने के लिए राज़ी हुआ। इतने में दोपहर हो गई। उसकी पत्नी को ज़ोर का बुखार हो आया। वह जाड़े के मारे थर-थर कांप रही थी, इतनी कि रज्जब की हिम्मत उसी समय ले जाने की न पड़ी। गाड़ी में अधिक हवा लगने के भय से रज्जब ने उस समय तक के लिए यात्रा को स्थगित कर दिया, जब तक कि उस बेचारी की कम-से-कम कँपकँपी बन्द न हो जाय।

घण्टे-डेढ़-घण्टे बाद उसकी कँपकँपी तो बन्द हो गई, परन्तु ज्वर बहुत तेज़ हो गया। रज्जब ने अपनी पत्नी को गाड़ी में डाल दिया और गाड़ीवान को जल्दी चलने को कहा।

गाड़ीवान बोला—"दिन भर तो यहीं लगा दिया। अब जल्दी चलने को कहते हो!"

रज्जब ने मिठास के स्वर में उससे फिर जल्दी करने के लिए कहा।

वह बोला—"इतने किराये में काम नहीं चल सकेगा। अपना रुपया वापस लो। मैं तो घर जाता हूँ।"

रज्जब ने दाँत पीसे। कुछ क्षण चुप रहा। सचेत होकर कहने लगा—"भाई, आफ़त सबके ऊपर आती है। मनुष्य मनुष्य को सहारा देता है, जानवर तो देते नहीं। तुम्हारे भी बाल-बच्चे हैं। कुछ दया के साथ काम लो।"

कसाई को दया पर व्याख्यान देते सुनकर गाड़ीवान को हँसी आ गई।

उसको टस से मस न होता देखकर रज्जब ने और पैसे दिए तब उसने गाड़ी हाँकी।

× × ×

पाँच-छः मील चलने के बाद सन्ध्या हो गई। गाँव कोई पास में न था। रज्जब की गाड़ी धीरे-धीरे चली जा रही थी। उसकी पत्नी बुखार में बेहोश-सी थी। रज्जब ने अपनी कमर टटोली, रक़म सुरक्षित बँधी पड़ी थी।

रज्जब को स्मरण हो आया कि पत्नी के बुखार के कारण अंटी का कुछ बोझ कम कर देना पड़ा है—और स्मरण हो आया गाड़ीवान का वह हठ, जिसके कारण उसको कुछ पैसे व्यर्थ ही दे देने पड़े थे। उसको गाड़ीवान पर क्रोध था, परन्तु उसको प्रकट करने की उस समय उसके मन में इच्छा न थी।

बातचीत करके रास्ता काटने की कामना से उसने वार्तालाप आरम्भ किया—

"गाँव तो यहाँ से दूर मिलेगा।"

"बहुत दूर, वहीं ठहरेंगे।"

"किसके यहाँ?"

"किसी के यहाँ भी नहीं। पेड़ के नीचे। कल सवेरे ललितपुर चलेंगे।"

"कल को फिर पैसा माँग उठना।"

"कैसे माँग उठूंगा? किराया ले चुका हूँ। अब फिर कैसे माँगूंगा?"

"जैसे आज गाँव में हठ करके माँगा था। बेटा, ललितपुर होता, तो बतला देता।"

"क्या बतला देते? क्या सेंत-मेंत गाड़ी में बैठना चाहते थे?"

"क्यों बे, क्या रुपये देकर भी सेंत-मेंत का बैठना कहता है? जानता है, मेरा नाम रज्जब है। अगर बीच में गड़बड़ करेगा, तो

नालायक को यहीं छुरे से काटकर कहीं फेंक दूंगा और गाड़ी लेकर ललितपुर चल दूंगा।"

रज्जब क्रोध को प्रकट नहीं करना चाहता था, परन्तु शायद अकारण ही वह भली भांति प्रकट हो गया।

गाड़ीवान ने इधर-उधर देखा। अँधेरा हो गया था। चारों ओर सुनसान था। आस-पास झाड़ी खड़ी थी। ऐसा जान पड़ता था, कहीं से कोई अब निकला और अब निकला। रज्जब की बात सुनकर उसकी हड्डी-हड्डी कांप गई। ऐसा जान पड़ा, मानो पसलियों को उसकी ठण्डी छुरी छू रही हो।

गाड़ीवान चुपचाप बैलों को हांकने लगा। उसने सोचा—"गांव के आते ही गाड़ी छोड़कर नीचे खड़ा हो जाऊँगा, और हल्ला-गुल्ला करके गाँववालों की मदद से अपना पीछा रज्जब से छुड़ाऊँगा। रुपये-पैसे भले ही वापस कर दूंगा, परन्तु और आगे न जाऊँगा। कहीं सचमुच मार्ग में मार न डाले!"

× × ×

गाड़ी थोड़ी दूर और चली होगी कि बैल ठिठककर खड़े हो गए। रज्जब सामने न देख रहा था, इसलिए ज़रा कड़क कर गाड़ीवान से बोला—"क्यों बे बदमाश, सो गया क्या?"

अधिक कड़क के साथ सामने रास्ते पर खड़ी हुई एक टुकड़ी में से किसी के कठोर कण्ठ से निकला—"खबरदार, जो आगे बढ़ा।"

रज्जब ने सामने देखा कि चार-पाँच आदमी बड़े-बड़े लठ बांधकर न जाने कहाँ से आ गए हैं। उनमें तुरन्त ही एक ने बैलों की जुआरी पर एक लठ पटका और दो दाएँ-बाएँ आकर रज्जब पर आक्रमण करने को तैयार हो गए।

गाड़ीवान गाड़ी छोड़कर नीचे जा खड़ा हुआ। बोला—"मालिक, मैं तो गाड़ीवान हूँ। मुझ से कोई सरोकार नहीं।"

"यह कौन है?" एक ने गरजकर पूछा।

गाड़ीवान की घिग्घी बँध गई। कोई उत्तर न दे सका।

रज्जब ने कमर की गाँठ को एक हाथ से सँभालते हुए बहुत ही विनम्र स्वर में कहा—"मैं बहुत ग़रीब आदमी हूँ। मेरे पास कुछ नहीं है। मेरी औरत गाड़ी में बीमार पड़ी है। मुझे जाने दीजिए।"

उन लोगों में से एक ने रज्जब के सिर पर लाठी उबारी। गाड़ीवान खिसकना चाहता था कि दूसरे ने उसको पकड़ लिया।

अब उसका मुँह खुला। बोला—"महाराज, मुझको छोड़ दो। मैं तो किराए से गाड़ी लिए जा रहा हूँ। गाँठ में खाने के लिए तीन-चार आने के पैसे ही हैं।"

"और यह कौन है? बतला?" उन लोगों में से एक ने पूछा।

गाड़ीवान ने तुरन्त उत्तर दिया—"ललितपुर का एक कसाई।"

रज्जब के सिर पर जो लाठी उबारी गई थी, वह वहीं रह गई। लाठी वाले के मुँह से निकला—"तुम कसाई हो? सच बतलाओ!"

"हाँ, महाराज!" रज्जब ने सहसा उत्तर दिया—"मैं बहुत गरीब हूँ। हाथ जोड़ता हूँ मुझको मत सताओ। मेरी औरत बहुत बीमार है।"

औरत ज़ोर से कराही।

लाठीवाले उस आदमी ने अपने एक साथी के कान में कहा—"इसका नाम रज्जब है। छोड़ो। चलें यहाँ से।"

उसने न माना। बोला—"इसका खोपड़ा चकनाचूर करो। दाऊजू यदि वैसे न माने तो। असाई-कसाई हम कुछ नहीं मानते।"

"छोड़ना ही पड़ेगा।" उसने कहा—"इस पर हाथ नहीं पसारेंगे और न इसका पैसा छुएँगे।"

दूसरा बोला—"क्या कसाई होने के डर से? दाऊजू, आज तुम्हारी बुद्धि पर पत्थर पड़ गये हैं। मैं देखता हूँ।" और वह तुरन्त लाठी का एक सिरा रज्जब की छाती में अड़ाकर उसने तुरन्त रुपया-पैसा निकाल कर दे देने का हुक्म दिया। नीचे खड़े हुए उस व्यक्ति ने ज़रा

तीव्र स्वर में कहा--"नीचे उतर आओ। उससे मत बोलो। उसकी औरत बीमार है।"

"हो मेरी बला से," गाड़ी में चढ़े हुए लठैत ने उत्तर दिया—"मैं कसाइयों की दवा हूँ।" और उसने रज्जब को फिर धमकी दी।

नीचे खड़े हुए उस व्यक्ति ने कहा—"खबरदार, जो उसे छुआ। नीचे उतरो, नहीं तो तुम्हारा सिर चकनाचूर किए देता हूँ। वह मेरी शरण आया था।"

गाड़ीवान लठैत झख-सी मार कर नीचे उतर आया।

नीचे वाले व्यक्ति ने कहा—"सब लोग अपने-अपने घर जाओ। राहगीरों को तंग मत करो।" फिर गाड़ीवान से बोला—"जा रे, हाँक ले जा गाड़ी। ठिकाने तक पहुँचा आना, तब लौटना। नहीं तो अपनी खैर मत समझियो। और, तुम दोनों में से किसी ने भी कभी इस बात की चर्चा कहीं की, तो भूसी की आग में जला कर खाक कर दूँगा।"

गाड़ीवान गाड़ी लेकर बढ़ गया। उन लोगों में से जिस आदमी ने गाड़ी पर चढ़ कर रज्जब के सिर पर लाठी तानी थी, उसने क्षुब्ध स्वर में कहा—"दाऊजू, आगे से कभी आपके साथ न आऊँगा।"

दाऊजू ने कहा—"न आना। मैं अकेले ही बहुत कर गुजरता हूँ। परन्तु बुन्देला शरणागत के साथ घात नहीं करता, इस बात को गाँठ बाँध लेना।"

सूखी लकड़ी

भगवती प्रसाद वाजपेयी

[जीवन-परिचय—भगवती प्रसाद वाजपेयी जी का जन्म सम्वत् १९५६ वि० में कानपुर जिले के कंगलपुर नामक ग्राम में हुआ। आपकी साहित्यिक शिक्षा प्रयाग में हुई। आपका जन्म एक सामान्य परिवार में हुआ था, अतः आपको साहित्यिक क्षेत्र में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। आप एक सफल उपन्यासकार और कहानी लेखक माने जाते हैं। आपकी भाषा सरल, बोधगम्य एवं मार्मिक होती है। आपकी रचनाओं में एक प्रकार का व्यंग्य पाया जाता है जो कहानी को सजीव बना देता है।]

सन् १९२५—

पौष मास के दिन हैं। थाने के निकट से लेकर झोंपड़ों के किनारे तक शाक-भाजी और फलवाले लगातार पाँत बाँधकर बैठते हैं। वहीं सड़क से लगी हुई कुछ परचूनी की दूकानें भी हैं। राधे भी गृहस्थी के अपने भाग का उत्तरदायित्व पूर्ण करने के लिए उधर जा निकला है। वहीं एक दूकान पर बैठी, अपनी सखी से बातें करती हुई, वह अँगीठी से हाथ सेंक रही है। उस दूकान के आगे, कुछ हटकर, एक आदमी अमरूदों की ढेरी लगाये हुए है। राधे अमरूद खरीद कर चलने लगा, तो लकड़ीवाली ने टोक दिया—"बाबू, लकड़ी न लेबो ?"

रूक्ष, म्लान उसकी कुन्तल-राशि है; मैली, फटी उसकी धोती। हाथों में चाँदी की चूड़ियाँ और मुद्रा में लोनी तरुणाई का झुलसता हुआ उद्वेलन।

राधे को क्या रोज़-रोज़ लकड़ी लेने की आवश्यकता पड़ा करती है ? अभी उसके यहाँ से लकड़ी लिये हुए मुश्किल से पन्द्रह दिन हुए होंगे ।

किन्तु वह मृगाक्षी क्या जाने कि राधे को उसके यहाँ से लकड़ी लिए हुए अभी इतने कम दिन हुए हैं । क्या उसके यहाँ दिनों की नाप का कोई हिसाब रहता है ? और दिनों का हिसाब कोई रख भी ले, किन्तु उस हिसाब की उपेक्षा का हिसाब कौन लगाने बैठता है ?

राधे तो उसकी ओर देखकर ऐसा विमूढ़ हो गया, जैसे कोई स्वप्न-भङ्ग हो । बोला—"लकड़ी ? लकड़ी तो अभी···। अच्छा ले लूँगा । अच्छी, एकदम सूखी है न ?"

"सूखी है बाबू एकदम सूखी" कहती हुई, वह वहाँ से तुरन्त उठ कर अपने झोपड़े को चल दी ।

सूखी लकड़ी ? हाँ सूखी लकड़ी ही है वह । उसके जीवन के आम्रतरु में न यष्टि है, न किशलय । मञ्जरियों की कौन कहे !

(२)

गङ्गा-तट पर कुछ झोंपड़े हैं । बाँस टट्टरों के उनके दरवाजे; बहुत कम ऊँचो, मिट्टी की दीवालों पर, साधारण-से दालान की छतें और कहीं-कहीं छप्पर । पावस में जब पानी बढ़ आता है, तब ये झोंपड़े दो ही चार दिनों में उजड़ जाते हैं । इतने अन्तर से वहाँ नावें चलने लगती हैं । छप्पर और टट्टर तो उठा लिए जाते हैं । किन्तु छतें और दीवालें ? वे जल-धारा की अनुगामिनी बनती हैं, उसमें आत्मसात् हो जाती हैं । फलत: जहाँ मनुष्य और उसकी कामना हँसती-खेलती है, वहाँ बात-की-बात में अनन्त जल-प्लावन देख पड़ता है । उसमें नाना प्रकार के जल-जन्तु लहराने लगते हैं । कार्तिकी पूर्णिमा के बाद उसी जाह्नवी-कूल पर वे झोंपड़े फिर से बस जाते हैं । मालूम नहीं, कितने दिन से, यही क्रम चला आ रहा है ।

इन्हीं झोंपड़ों में से एक में रहती है यह लकड़ी वाली ।

उसका यह नाम राघे ने उसके व्यवसाय के अनुसार रख लिया है। असली नाम क्या है, उसने कभी जानने की आवश्यकता ही नहीं समझी। आज वह विधवा है और अवस्था भी उसकी तीस पार कर आई है। राधे जब इस मुहल्ले में रहने आया था और दूसरे ही दिन जब उसको लकड़ी खरीदने की आवश्यकता पड़ी थी, तब एकाएक, उसको अपने टाल के पास से जाता हुआ देखकर जिस किसी ने टोंककर उससे पूछा था—लड़की लेओ बाबू?—

वह यही लकड़ी वाली थी और तब भी वह विधवा थी।

किन्तु इस मुहल्ले में आये हुए राधे को कितने दिन बीत गये और अल्हड़ जिज्ञासा-भरे प्रश्न का वह क्षण, सुदूर अतीत में घुल-मिलकर, कितना धुंधला पड़ गया!

ग्यारह वर्ष—हाँ, ग्यारह वर्ष!

माना कि राधे वर्षों का मूल्य आँकने में कोई उत्साह नहीं रखता। वे आते हैं और चले जाते हैं। उनके आने का नवल आज, जैसा धुले तरु पल्लव-सा वाचाल प्रतीत होता है, कल के भविष्य में, वह भी, धूमिल अतीत बन कर, झंझा के साथ उड़ा-उड़ा फिरता है! किन्तु प्रश्न तो यह है कि ग्यारह वर्षों का यह अन्तर भी जिस प्रश्न के मर्म-स्पर्श को शिथिल न बना सका, आज वह राधे के हृत्तल में कम्पित हो-होकर सर्वथा मूक कैसे बना रह सकता है!—जबकि लकड़ी वाली तब भी विधवा थी और आज भी विधवा है!

—किन्तु वैधव्य के साथ कैसा तब कैसा अब?

—बात यह है कि लकड़ी वाली यदि चाहती, तो 'अब' को लेकर विधवा नहीं भी रह सकती थी। वह जाति की निषाद जो है। इन लोगों में विधवा विवाह का ऐसा कोई निषेधात्मक प्रतिबन्ध नहीं है।

उधर राधे जगत मे विरक्त रहकर नहीं चलता। क्यों विरक्त रहे वह? मनुष्य का मन, और उसके अन्दर अध्ययनशीलता रखकर वह विरक्त क्यों बने? तभी वह, जो सामने आता है, उसे देखता-

टटोलता हुआ चलता है। अपनी ओर से वह उत्सुक नहीं बनता। उतना ही देखता, स्पर्श और ग्रहण करता है, जितना उसके सामने आ पड़ता है।

इस लकड़ी वाली को भी राधे ने कुछ इसी तरह देखा है।

आगे-आगे वह चल खड़ी हुई, पीछे-पीछे चला राधे। किन्तु थोड़ा चलकर भी वह और चल न सका। लकड़ी वाली जब जरा और आगे निकल जायगी, तब वह जायगा। जल्दी वह कैसे जाय ! न, वह इतनी जल्दी नहीं जायगा। वह न तो पथिक है—न पक्षी।

"तो यह राधे कौन है ?"

"है राधे, तुम्हारा सिर ! पाजी कहीं के !"

वह गई, वह। हाँ, चला गई।

राधे भी चल दिया।

"तो राधे, इस विराम का अर्थ क्या है ?"

"विराम का अर्थ ! हाँ, है क्यों नहीं !—वह सूखी लकड़ी।"

"विराम का जो अर्थ है, वही इस मन्दता का भी है, राधे। गति भी मन्दता को प्राप्त होकर यहाँ विराम बन गई है।"

"यह परिहास नहीं है। व्यंग भी नहीं है। यह तो दाह है—दाह !

"दाह है !—किसका ?"

"पूछते हो किसका ! दुष्ट कही के ! मेरे सामने बनने आये हो ! जानते नहीं, यह दाह है एक युग से चले आ रहे संस्कार-जन्य रूढ़िवाद के ज्वालामुखी में लोल-लोचना नारी के स्वर्णिम उल्लास का ! यही वह दाह है जिससे झुलस-झुलसकर, तितर-बितर होकर, हिन्दू-जाति का सारा उत्कर्ष, उसका सारा जीवन, विधर्मियों के हिंसक नख-दन्त का शिकार बना है !

आन्दोलित राधे तब उस टाल के पास जा पहुँचा।

एक मजदूर लकड़ी चीर रहा है। भारी कुल्हाड़ी बेंट समेत चक्कर बनाती हुई उसके सिर के ऊपर जाती और लौटकर, जोर के साथ लकड़ी

के कुन्दे के भाल को फाड़ देती है। दो चार हलके भारी आघात और होते हैं, और बात-की-बात में चार-छः चैले सामने बिखरे मिलते हैं।

राधे ने तब एक चैले को उठाकर देखा। देखा, लकड़ी सूखी जरूर है।

लकड़ी ने—हाँ, लकड़ी-रूप जो लकड़ी है उसने—दो मजदूरनियाँ बुला लीं। उनको अलग-अलग लकड़ी तौलकर, वह धूप में अलग जा बैठी। मजदूरनियाँ अपनी-अपनी लकड़ी इकट्ठा कर करके गट्ठर बनाने लगीं।

लकड़ी वाली का बूढ़ा बाप है और वह। बस। तीसरा कोई नहीं है। और बाप बूढ़ा तो है ही; बीमार भी रहता है। दमा का मर्ज है उसे। वह एक ओर चारपाई डाले, धूप में, तकियों पर सिर रखे औंधा बैठा है। खाँसी आती है, तो उसकी पसलियाँ धौंकनी बन जाती हैं।

राधे ने इस ओर भी देखा। देखा, समूचा पेड़ का पेड़ सूख गया है।

मजदूरनियों ने परस्पर के सहयोग से गट्ठर बाँध लिये। एक ने दूसरी को, उसका गट्ठर, उठवा भी दिया। पर अब दूसरी का गट्ठर कौन उठवाये? तब वह लड़की ही उठ खड़ी हुई।

राधे खड़ा-खड़ा कुछ देख रहा था—कुछ सोच रहा था। एकाएक गट्ठर उठवाने के लिए उस लड़की को आता देखकर वह घूमकर खड़ा हो गया। फिर खड़ा भी न रह कर, रुक-रुककर, टहलने लगा।

उधर लड़की ने मजदूरिन का गट्ठर उठवा दिया। दोनों मजदूरिनें अपने-अपने गट्ठर लेकर एक ओर चल दीं।

लकड़ी वाली बोली—लकड़ी गई बाबू।

और स्वप्नाविष्ट-सा राधे उसकी ओर देखकर बोला—अच्छा!

किन्तु उसके अन्तराल में, अपने आप, कोई कह उठा—लकड़ी गई कहाँ?—वह तो चिर रही है!

(४)

सन् १६३६—

राधे के यहाँ इस बार लकड़ियाँ गीली आ गयीं। नौकर, मालूम नहीं क्यों, इस तरह अन्धा बन जाता है कि देखभाल कर चीज़ नहीं लाता !

अर्जुन बोला—बाबू, अब के लकड़ियाँ बहुत गीली आई हैं। चूल्हा फूँकते-फूँकते अम्मा की आँखें लाल हो गयीं। यह नौकर···।

अर्जुन अभी अपनी बात पूरी कर भी नहीं पाया था कि दौड़ी-दौड़ी अनू (अनुसुइया) भी आ पहुँची। बोली—बाऊ, अले ओ बाऊ, लअइयां ईला एँ। अम्मा ओती एँ।

एक ओर उलझन···दूसरी ओर कविता।

'मेरी अनू तो रानी बिटिया है' कहते हुए राधे ने उसकी चुम्मी ली। फिर वह सूखी लकड़ी, खुद देख कर, लाने के लिये चल दिया।

घूमता-फिरता हुआ राधे एक झोंपड़े के पास आ कर खड़ा हो गया। वहाँ लकड़ी चीरी जा रही थी। राधे बोला—मुझे सूखी लकड़ी चाहिये।

लकड़ी वाली ने ढेर की ओर संकेत कर कहा—है तो यह।

वह इन दिनों बीमार है। चारपाई से लग गई है। अकेली तो वह यों भी थी। किन्तु पिता तो था उसका। माना कि बीमार रहता था; किन्तु था तो वह।—चल तो रहा था। कभी-कभी जब भला चंगा हो जाता, तो खूब मोल-तोल करके, अच्छी तरह घुमा-फिरा कर, लकड़ी तो खरीद लाता था। किन्तु इधर अनेक वर्षों से वह भी नहीं है। यही सब क्षण भर में ही लक्ष्य करके राधे ने जो लकड़ी के उस ढेर की ओर देखा, तो कह दिया—यह तो गीली जान पड़ती है। ऐसी लकड़ी तो आज नौकर, मालूम नहीं कहाँ से, बहुत सी ले आया है। मुझे तो एकदम सूखी लकड़ी चाहिए—ऐसी, जिसे फूँकने की भी जरूरत न पड़े—जो एकबार जलकर फिर बराबर

जलती ही रहे। अब भी जो गीली लकड़ी ले जाऊँगा, तो घरवाली जली-कटी न सुनायेगी!

वह उठ बैठी। बोली—बहू?

राधे ने कह दिया—हाँ

वह तब चुप रह गई।

और राधे उसकी आँखों को जैसे इकटक देखता रह गया। "वे इतनी जल्दी सजल क्यों हो आयीं?"—वह सोचता, किन्तु सोच न पाता।

"उँह! तुम भी राधे तिनके-सी ज़रा-ज़रा-सी बात को भी इतना महत्व देते हो!" उसके मन में आया ही था कि वह चल खड़ा हुआ।

उसी क्षण वह बोली—"जाते कहाँ हो बाबू? सूखी लकड़ी लेते जाओ।" साथ ही उसने लकड़ी चीरने वाले मजदूर से कहा—"कोठरी में जितनी लकड़ी निकले, बाबू को तौल दो।"

रमजानी ने अपना काम बन्द कर दिया। वह कोठरी से लकड़ी निकाल-निकाल कर बाहर फेंकने लगा।

उसी क्षण राधे ने सुना—लकड़ी वाली कह रही है—"थोड़ी-सी ही होगी। अपने लिए रख छोड़ी थी।" उसने लक्ष्य किया, इस कथन के साथ उल्लास कितना है! उसके म्लान मुख पर भी यह दीप्ति कैसी है।

वह बोला—"और अपने लिए?"

"अपने लिए कौन जाने कब जरूरत पड़े, बाबू! तुम ले जाओ—बहू को जिसमें तकलीफ न हो। मेरा क्या ठीक?"

—उसने कहा है—मेरा क्या ठीक?

—हाँ, ठीक तो कहा है। अब उसका क्या ठीक?

रमजानी जब गट्ठर बाँध चुका, तो लकड़ीवाली ने कहा—"पूरी आठ पंसेरी निकली बाबू। छः आने पैसे की।......अब इसे तुम्हीं

देते भी आओ रमजानी। बाबू पास ही कहीं रहते हैं। तुम्हारा काम भी पूरा हो गया। एक ही कुन्दा तो चीरने को रह गया है।"

राधे ने छः आने पैसे, लकड़ी वाली के निकट जाकर उसके हाथ पर रख दिए।

तदनन्तर।

मनभर लकड़ी का गट्ठर सिर पर लादे हुए आगे-आगे रमजानी चला; पीछे-पीछे भारी हो रहे मन को लेकर राधे।

—क्या कहा था ?—"थोड़ी-सी होगी, अपने लिए रख छोड़ी थी !"

—ठीक तो है। लकड़ी सब चिर गई है। केवल एक कुन्दा शेष है! के···व···ल !

मौसी

उपेन्द्रनाथ अश्क

[जीवन-परिचय—उपेन्द्रनाथ अश्क जी का जन्म सन् १६१० में जालन्धर में हुआ। पंजाब विश्वविद्यालय से बी० ए० की परीक्षा पास करने के उपरान्त आपने अध्यापन कार्य आरम्भ कर दिया। उर्दू भाषा-भाषी प्रदेश में जन्म लेने के कारण आपने आरम्भ में उर्दू में ही साहित्य रचना की। जालन्धर से आप लाहौर आ बसे और वहाँ कई उर्दू पत्रों का संपादन कार्य सँभाला। इसी नगर में आपने हिन्दी में भावाभिव्यक्ति करनी शुरू की। प्रेमचन्द जी के समान 'अश्क' जी ने भी हिन्दी के साहित्य भंडार को अनुपम कृतियों से समृद्ध बनाया है।

अश्क जी की प्रतिभा सर्वतोमुखी रही है। कहानी, कविता, नाटक, उपन्यास सभी की रचना में आपको समान रूप से सफलता मिली है। हिन्दी में व्यंग्य प्रधान एकांकी नाटकों की रचना में आपको सर्वाधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई है। कहानी लेखन में आपकी शैली एक अपूर्व विशदता एवं स्वच्छता को लिए है। भाषा सरस, ललित एवं कवित्वमयी है।

अश्क जी की कहानियों में कोरी कल्पना का ही समावेश नहीं हुआ, उनमें अनुभूति की मार्मिकता एवं गहनता भी प्रतिबिम्बित होती है। वातावरण में डूबकर पात्रों का इतना जीता जागता चित्रण करते हैं कि वे सहज ही पाठक की सहानुभूति को प्राप्त कर लेते हैं। अधिकांश कहानियाँ रोजमर्रा के जीवन की घटनाओं से ही आधारित हैं। इन कहानियों में समाज के प्रति एक सजग दृष्टिकोण दिखलाई

पड़ता है । सामाजिक जटिलताओं एवं कृत्रिम जीवन पर चोट करना भी आपकी शैली का एक असाधारण गुण है । जहाँ एक ओर आपकी कहानियाँ रोचकता से परिपूर्ण हैं वहाँ दूसरी ओर उनमें जीवन की गहन अनुभूति एवं सत्य की गरिमा भी विद्यमान है । इन दोनों गुणों का असाधारण सामन्तरण आपको कहानीकारों की प्रथम पंक्ति में स्थान दिला देता है ।]

"मौसी सुस्त है, मौसी भुलक्कड़ है, मौसी वज्र-मूर्ख है, मौसी सुनती नहीं, मौसी के मारे जान आफत में है······"

और मैं अपनी बीवी की हाँ-में-हाँ मिलाते हुए मौसी की और भी ऐसी 'खूबियों' की ओर संकेत करता हूँ, जिन पर पत्नी की दृष्टि नहीं जाती कि वह घोर गर्मी में भी अपनी कोठरी में सोती है, साबुन देने पर भी कपड़े नहीं धोती, लाख चिल्लाओ उत्तर नहीं देती और अपनी उसी मन्थर गति से चले जाती है······

"तो इसे निकाल कर ढंग का नौकर क्यों नहीं रखते ?" सहसा पत्नी मेरी बात काट कर ताना देती है ।

और मेरा सारा जोश ठंडा पड़ जाता है । मैं चुप हो जाता हूँ । बात का पहलू बदलने की कोशिश करता हूँ या चुपचाप वहाँ से खिसक जाता हूँ ।

मौसी मझोले कद और दोहरे बदन की अत्यन्त काली और कुरूप स्त्री है । दाँत उसके तम्बाकू खाते-खाते घिस गए हैं और सुस्त इतनी है कि पाँच मिनट का काम आधे घंटे में करती है । साधारणतः मैं ऐसा नौकर कभी न रखता, पर विभाजनोपरान्त अपनी बीमारी से किसी तरह बच कर जब इलाहाबाद आया तो जिस प्रकार महँगे किराये का मकान लेने की मकत न थी, उसी प्रकार महँगा नौकर रखने का हौसला न था । तीन महीने की दौड़-धूप के बाद, खुसरोबाग के निकट एक बंगले के पिछवाड़े एक छोटी-सी कॉटेज मिली । मौसी उसी के बराबर सर्वेण्ट्स क्वार्टर्स में रहती थी । बेकार थी। सात रुपये महीने

पर काम करने को तैयार हो गयी। उसका भानजा जो बंगले के मालिक के यहाँ बावर्ची था, उसे मौसी कह कर पुकारता था, इसलिए हम सब भी उसे मौसी ही कहने लगे।

इन आठ बरसों में धीरे-धीरे यद्यपि मकान तो बढ़ कर ग्यारह कमरों का हो गया, बावर्ची नया नहीं आया। मौसी बदस्तूर मौजूद है। पगार उसकी तिगुनी हो गयी है, पर काम वह और भी ढीला करने लगी है। कई बार उसकी सहायता को नौकरानी रखी है, पर किसी दूसरे को वह किचन में फटकने नहीं देती और स्वयं ठीक से काम नहीं करती।

हमारी चिल्लाहट अथवा झल्लाहट का उस पर कोई असर नहीं पड़ता। अपनी गति को वह रंचमात्र नहीं बदलती और मौनरूप तथा मन्थर-गति से काम किये जाती है। कभी जब जबान खोलती भी है तो हमारे चिल्लाने या शोर मचाने का उसके उत्तर में कोई प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता—न आम नौकरों के स्वर में झलकने वाली खीझ, न क्रोध, न चिड़चिड़ाहट, न गुस्ताखी!

"……मौसी यह आज तूने फिर अचार नहीं रखा।" मैं लंच के वक्त चिल्लाता हूँ, "तुझसे बीस बार कहा है कि खाने को उस वक्त बुलाया कर, जब सब कुछ मेज पर रख दिया हो। अब जितने में तू अचार रखेगी, मैं आधा खाना खत्म कर दूँगा।"

"भुलाय गये भइय्ये।' और वह डोली से अचार की प्लेट निकालती है, लेकिन प्रायः प्लेट में अचार खत्म होता है और वह स्टोर से लाने जाती है और जब आधे घंटे बाद अचार लेकर लौटती है तो मैं उठ चुका होता हूँ।

……मौसी, यह तूने फिर प्लेटें गीली ही मेज पर रख दीं, तुझसे बीस बार कहा है, झाड़न ला-लाकर दिये हैं, पर तू कभी नहीं पोंछती।" मेरी पत्नी कहती है।

"पोंछत तो हैं बहू!"

बहू का पारा चढ़ जाता है। 'यह पोंछो है। देख, यह पोंछो है।"

और वह गीला प्लेट उसको आँखों के आगे करती है।

मौसी खामोशी से प्लेट ले लेती है। "ऐ के हमके दइ दे, तू दूसर लइ ले।" यह कहते हुए वह दूसरी प्लेट पत्नी को दे देती है।

"......मौसी, तीन-चार दिन हुए फल लाया था। एक दिन खायें फिर तूने मेज़ पर नहीं रखे।

"अरे तो भइय्ये, का हम खाय गये।"

"तो निकाल !"

लेकिन फल सड़ चुके होते हैं और मैं चिल्लाता हूँ कि "हमें देना भूल गई थी तो खुद ही खा लेती। अब ये किस के काम आयेंगे ?"

वह कुछ नहीं कहती। जाकर उन्हें कूड़े की टोकरी में डाल आती है।

"......मौसी ! ...मौसी !"...

मेरी पत्नी अचानक सालन परोसते-परोसते उठ कर चिल्लाती है।

मौसी कोई आवाज नहीं देती।

"...मौसी ! ...मौसी !"...

कई बार चिल्लाने पर मौसी मन्थर गति से झूमती झामती किचन से आती है।

"कानों में क्या रूई डाल कर बैठी है, इतनी आवाजें दीं। जवाब क्यों नहीं देती ?"

"अरे आवत तो रहे बहू।"

"आवत तो रहे बहू !" पत्नी आँखें तरेरती और मुँह बनाती है, "ओठ क्या सी रखे हैं ? कहा नहीं जाता कि आ रहे हैं।"

इस सब का वह कुछ उत्तर नहीं देती। तम्बाकू का रस पपोवते हुए ठोड़ी को जरा आगे बढ़ा कर केवल धीरे से इतना पूछती है, "का कहत हो ?"

"कहते हैं तेरा सिर।" पत्नी झल्लाती है। "यह आज फिर नमक नहीं डाला तरकारी में। कितनी बार कहा है कि अलग कटोरी में डाल कर चख लिया कर।"

"अरे बहू डाले तो रहे।"

"डाले तो रहे! तो क्या हमने उड़ा दिया। ले खाकर देख, है रत्तीभर भी?" और वह सालन का डोंगा उसके आगे करती है।

मौसी अप्रतिभ नहीं होती। सिर को अजीब भुल्लकड़ ढंग से हिलाते हुए कहती है। "डाले तो रहे, कमती हुई गया होई।"

अब मैं चिल्लाता हूँ। "कमती क्या, जरा भी नहीं। एकदम फीका है।"

"तो भुलाय गये होई भइय्ये।"

और वह चुपचाप साइडबोर्ड से नमकदानी उठाकर हमारे आगे रख देती है।

और यह सब रोज होता है। अचार रखा हो, प्लेटें साफ हों, फल ठीक हों, नमक कम न हो तो सुराही में पानी न होगा, रोटी पपड़ी-सी सूखी होंगी; रायता बनाकर रखा होगा, पर देना भूल गयी होगी? दूध न जमाये जाने के कारण फट गया होगा, या कुछ और गड़बड़ कर रखी होगी। साधारणत: एक-आध बार चिल्लाकर अथवा चिल्लाना बेकार समझ मन-ही-मन खीझकर हम चुप हो जाते हैं और अपने काम में लग जाते हैं। लेकिन कभी-कभी ऐसा भी होता कि हमारे सब्र का प्याला लबालब भरकर छलक उठता और मस्तिष्क संतुलन खो बैठता है। व्यर्थ जानते हुए भी हम चिल्लाये जाते हैं।

······दफ्तर घर ही में है। पत्नी प्रकाशन का सारा काम सम्हालती है, पर कई बार मुझे उसके साथ जाना पड़ता है। समय की पाबन्दी नहीं रहती। कोई किताब छपने वाली है। हम कागज और प्रेस की व्यवस्था करने बाहर गये हुए हैं। आते-आते डेढ़-दो बज जाते

हैं। भूख के मारे पेट में चूहे दौड़ने लगते हैं। बीमारी के बाद में कुछ ऐसा कमजोर हो गया हूँ कि समय से खाना न खाऊँ और भूख लग आये तो कुछ सुझाई नहीं देता। वे दिन जब यार-दोस्तों में बैठे गप्पें लगाते सुबह से शाम हो जाती थी और खाने की सुधि तक न रहती थी या कोई रोचक उपन्यास खाने की याद भुला देता था, अब हवा हो गये हैं। रिक्शा में घर लौटते हुए खाने का कमरा और मेज पर लगी प्लेटें और सालन की सुगन्ध मन-मस्तिष्क को घेर लेती है।

रिक्शा से उतरते ही चिल्लाता हूँ, "मौसी खाना रखो !"

"रक्खीथ हैं भइय्ये।"

खाना रखा जाता है। हम खाने बैठते हैं, लेकिन अभी आधा खत्म नहीं करते कि अचानक मालूम होता है, रोटियाँ खत्म हो गयी हैं।

"मौसी," मैं या पत्नी चिल्लाती है, "रोटियाँ पूरी नहीं पकायीं ?"

"गर्म-गर्म लाये रहे हैं।" वह किचन ही से चिल्लाती है।

और सहसा खाने का सब मजा किरकिरा हो जाता है। क्योंकि मौसी के 'गर्म-गर्म रोटियाँ लाने' का मतलब हम दोनों बखूबी समझते हैं।

पत्नी चिल्लाती है कि जब दो बज गये थे तो उसने सब पका-उकाकर क्यों नहीं रखीं ?

और मैं कड़कता हूँ कि वह बार-बार क्यों एक ही बात कहलवाती है, क्यों बात उसकी समझ में नहीं आती, गर्मी में अन्दर सोती है, उसके भेजे मे अकल रह कैसे सकती है···

और पन्द्रह-बीस मिनट तक चिल्लाकर और प्रतीक्षा करके थक-हारकर, हम खाना बीच में ही छोड़, रसोई-घर में जाते हैं, तो देखते हैं कि मौसी एक हाथ से आटा सान रही है और दूसरे से अँगीठी को हवा कर रही है।

"तूने रोटी न पकायी थी तो आटा क्यों नहीं साना ?" पत्नी चिल्लाती है।

"अब आग जलाने बैठी है," मैं गर्जता हूँ, "अढ़ाई बज गये हैं, गर्म रोटियाँ खिलानी थीं तो अँगीठी तो गर्म रखती।"

लेकिन मौसी हमारी कड़क और गर्ज का कोई उत्तर नहीं देती।

"हुई जात है, हुई जात है," ओठों से हमें तसल्ली देते हुए वह उसी तरह एक हाथ से आटा सानती हुई दूसरे से पखा किये जाती है।

हम झल्लाये हुए वापस खाने की मेज पर आ बैठते हैं। मौसी के खिलाफ शिकायतों के दफ्तर खुल जाते हैं और तान आखिर पत्नी की इस बात पर टूटती है—

"कोई ढंग का नौकर रखिए। इस कम्बख्त के मारे तो जान आफत में है।"

और मेरी सारी झल्लाहट सहसा खत्म हो जाती है। क्रोध को दबाकर मैं चुप हो जाता हूँ।

पत्नी ताना देती है कि मैं मौसी से दबता हूँ। नया बावर्ची रखना नहीं चाहता।

मैं मौन रहता हूँ और मौन आप जानते हैं आधी स्वीकारोक्ति के बराबर है।

······कभी ऐसा भी होता है कि बैड-टी (Bed Tea) के बाद नाश्ता भी हो चुका है और मौसी दोपहर के खाने की सबील करने में मग्न होती है कि कोई मित्र मिलने आ जाता है और मैं शिष्टाचारवश पूछ बैठता हूँ कि भाई चाय का प्याला आये ?

"क्या हर्ज है ?" मित्र उत्तर देता है।

और मैं वहीं से चिल्लाकर कहता हूँ "मौसी, दो प्याला चाय लाओ !"

और उस वक्त जब बातों का सिलसिला बड़े जोरों से चल रहा होता है और मित्र ही का नहीं मेरा भी ध्यान किचन की तरफ लगा होता है कि चाय आ जाय, एक-एक प्याला भी पी लिया जाय तो बातचीत या वाद-विवाद में कुछ गर्मी आये कि मौसी ट्रे में चाय लिये

अपनी उसी मन्थर गति से आती है। मैं उसके हाथ से ट्रे लेता हूँ। लगातार बातें करते हुए पहले जरा सी चाय डालकर प्याले गर्म करता हूँ, फिर चाय का पानी प्यालों में डालकर अपने में एक और मित्र के प्याले में, उससे पूछकर, एक दो चम्मच चीनी डालता हूँ, लेकिन जब दूध का जग उठाने को हाथ बढ़ाता हूँ तो देखता हूँ कि जग नदारद है।

"ऐ मौसी!" चिढ़कर मैं चिल्लाता हूँ।

मौसी वही मैली धोती पहने, निचले ओठ में सुरती दबाये, निहायत इत्मीनान से, किसी तरह से जल्दी किए बगैर आती है और खैनी से निचला ओठ भरा होने के कारण ठोड़ी जरा उठाकर पूछती है कि क्या बात है?

"दूध नहीं लायी?" मैं चिल्लाता हूँ।

'ऐ दूध कहाँ है भइय्ये।" मुँह जरा ऊपर उठाकर दोनों हाथ आगे को फैलाते हुए कहती है।

मैं निमिष भर उसकी ओर देखता हूँ। जी चाहता है कि उसका और अपना सिर नोच लूँ। कितनी बार समझाया है, लेकिन इस मूरख को अक्ल नहीं आयी कि मेहमान बैठा हो तो ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए। लेकिन किसी तरह क्रोध को पीकर, संयम से काम लेकर, पूछता हूँ, "नहीं था तो चाय क्यों बनायी। क्या दूध के बिना पहले कभी चाय पी है, जो अब पियेंगे। चाय बनाने से पहले क्यों नहीं लायी दूध!"

"किससे मँगाते भइये?"

अब संयम रख पाना असम्भव हो जाता है। क्रोध से चिल्ला उठता हूँ, "क्या दफ्तर में सब लोग मर गये हैं, चपरासी कहाँ है?"

लेकिन मौसी इसका कोई उत्तर नहीं देती चुपचाप तम्बाकू का रस पपोले जाती है।

"पुषी कहाँ है ?" मैं अपने सम्बन्धी लड़के के बारे में पूछता हूँ, जो मेरी पत्नी के साथ प्रकाशन का काम देखता है।

मौसी उत्तर नहीं देती। मुटर-मुटर तके जाती है।

"और कोई नहीं आता तो तूने मुझसे क्यों नहीं कहा, मैं खुद जाकर बाजार से दूध ला देता। दूध नहीं तो क्यों बनाई चाय ?"

मित्र लाख कहता है कि यार मैं चाय पीकर चला था, तुमने पूछा तो मैंने यों ही 'हाँ' कर दी, अब हटाओ इस किस्से को ! लेकिन लगातार चिल्लाये जाता हूँ। गुस्सा इस बात का नहीं कि चाय क्यों बनी, बल्कि इस बात का है कि जब घर में दूध नहीं था तो क्यों बनी ? और यदि बन ही गई थी और दूध के अभाव का पता बाद में चला था तो हमारे सामने क्यों आई और मेहमान के सामने उसने क्यों कहा कि दूध नहीं है···और मैं चाय की ट्रे ठेल देता हूँ कि उठाओ और दनदनाता हुआ बाहर जाता हूँ और जोर-जोर से चिल्लाता हूँ और चपरासी और पुषी और मेरी बीबी एक साथ दफ्तर से बाहर निकल आते हैं और सब बात सुनकर मेरी पत्नी चपरासी को दूध लाने के लिए भेज देती है, आदेश देती है कि साइकिल पर जाये और पलक झपकते ले आये।

चपरासी को आदेश देकर पत्नी फिर अपने काम में जा लगती है और वापस आकर मैं फिर बातों का तार पकड़ने की कोशिश करता हूँ, लेकिन तनी हुई नसों के कारण बातें चल नहीं पातीं। बार-बार इस वज्र-मूर्ख नौकरानी पर क्रोध आता है।

ऊबकर मित्र कहता है, "अच्छा यार मैं चलता हूँ, फिर आऊँगा।"

"नहीं, नहीं बैठो, चाय पीकर जाना।" मैं आग्रह करता हूँ।

विवश होकर मित्र फिर बैठ जाता है। मैं इधर-उधर की बात चलाने का प्रयास करता हूँ। लेकिन बात चल नहीं पाती।

कि तभी चपरासी सीधा वहीं कमरे में दूध का लोटा ले आता है।

"मैं दूध क्या करूँगा ? उधर किचन में ले जा और मौसी से कह कि पानी गर्म करके नयी चाय बनाये और दूध भी गर्म करे।"

मित्र फिर एक बार कहने की कोशिश करता है…"हटाग्रो यार ग्रब चाय…" लेकिन मैं हाथ बढ़ाकर ही उसे रोक देता हूँ।

"मौसी तो वहाँ नहीं।" चपरासी ग्राकर खबर देता है।

"नहीं है तो देख कहाँ है? तम्बाकू खाने गयी होगी उसकी बहन से पूछ!"

ग्रौर बरामदे में निकलकर मैं जोर से चिल्लाता हूँ…"मौसी"… "मौसी!" ग्रौर बेकली से वहीं बरामदे में इधर-से-उधर टहलता हूँ ग्रौर मित्र पछताता है कि उसने चाय पीने के लिए क्यों हाँ कर दी। मुफ्त की बोरियत मोल ले ली।

तभी चपरासी ग्राकर बताता है, "मौसी बाहर गयी है।"

"बाहर गयी है! क्यों बाहर गयी है?" मैं चिल्लाता हूँ, "उसे मालूम नहीं था कि मैंने तुझे दूध लेने के लिए भेजा है।"

"ग्रब हम का बतायी।" चपरासी बेबसी से कहता है।

मैं लोहू के घूँट भर रहा होता हूँ। बीबी दफ्तर से काम छोड़कर स्वयं रसोई-घर में जाकर पानी चढ़ाती है कि मौसी बड़े इत्मीनान से किसी तरह की जल्दी किये बगैर, उसी मन्थर गति से, झूमती-झामती बाहर से ग्राती दिखायी देती है।

"मौसी तू किधर चली गयी थी? तुझे मालूम नहीं था कि मेरे दोस्त ग्राये हुए हैं ग्रौर मैंने चपरासी को दूध के लिए भेजा है।"

"ग्ररे तो भइय्या बाहर गये रहे।"

ग्रौर वह ग्रपनी बड़ी-बड़ी ग्राँखें निकाले, कुमारी ग्रन्तरीप-सी ठोढ़ी ग्रागे बढ़ाये, तम्बाकू भरे दाँत दिखाती हुई दोनों हाथ बढ़ा देती है।

'बाहर' का मतलब मैं समझ जाता हूँ, पर मेरा क्रोध शांत नहीं होता।

"बाहर गयी थी तो जाते-जाते पानी चढ़ा जाती।" मैं चिल्लाता हूँ।

मौसी जरा भी नहीं घबराती...."चढ़ाये देत हैं...चढ़ाये देत हैं !" कहती हुई उसी मन्थर गति से, वह किचन की ओर चल देती है।

शाम को मैं पत्नी से शिकायत करता हूँ तो वह उल्टा मुझे ही कोसने लगती है कि मैं कितनी बार कह चुकी हूँ, कोई ढंग का नौकर रखिए। इस कम्बख्त के मारे जान आफत में है। दूध चुक गया था या ग्वाला कम दे गया था तो मुझसे आकर कहती। मैं मँगा देती।

और पत्नी मौसी को बुला कर डाँटती है।

"अब सारा दिन चाय बनात-बनात जान आफत में आ जात है।" वह प्रोटेस्ट करती है।

"सारा दिन चाय बनाने से. दूध न होने पर मेहमान के सामने भंडा फोड़ने का क्या सम्बन्ध है ?" मैं चिल्लाता हूँ।

लेकिन यह बात मौसी की समझ में नहीं आती। वह रोने लगती है कि उसे छुट्टी दे दी जाय, इतना काम करने पर भी उसे डाँट पड़ती है और पत्नी कहती है, "हाँ, आप दूसरा नौकर ढूँढिए।"

लेकिन यहीं मैं दब जाता हूँ, मेरा सारा क्रोध जैसे एकदम ठंडा पड़ जाता है और मैं पैंतरा बदल कर उसे समझाने लगता हूँ कि छुट्टी देने-दिलाने की बात नहीं, उसे खुद खयाल रखना चाहिए कि मेहमान के सामने ऐसी बात कहने से घर की कैसी बेइज्जती होती है आदि आदि......

और ऐसे वक्त मेरे सामने हमेशा अपने एक मित्र की सूरत घूम जाती है। वे एक पंजाबी युवक हैं। चार एक साल पहले काश्मीर में नियुक्त हुए हैं। मैं दो साल काश्मीर जाता रहा हूँ और उनके घर की हर गति-विधि से परिचित हूँ। शादी अभी उनकी हुई नहीं है, घर में केवल माँ और एक पंजाबी छोकरा है। माँ काश्मीरी भाषा जरा भी नहीं समझती। और वह छोकरा है कि सिनेमा का फर्स्टक्लास फैन है। सप्ताह में दो-तीन बार पिक्चर नहीं देख लेता तो उसे खाना हजम नहीं होता। कई बार ऐसा होता है कि उन्होंने चाय पर कुछ मित्र

बुला रक्खे होते हैं, पर वह मैटनी देखने चला जाता है। उसके आते ही माँ-बेटा उस पर बरस पड़ते हैं। लेकिन वह माफी माँगने या शेष काम निबटाने के बदले बाहर पनवाड़ी की दुकान पर बैठ जाता है। आध-एक घंटा तो माँ-बेटा झल्लाते रहते हैं। माँ कहती है कि जिनके नौकर नहीं होते उनका क्या काम नहीं चलता और बेटा निहायत दार्शनिक ढंग से घर के सब काम खुद करने के लाभ पर अपने अमूल्य विचार प्रकट करता है और दोनों माँ-बेटा प्रोग्राम बनाते हैं कि नौकर को हटा कर वे कैसे घर के सारे काम खुद करेंगे, बेटा कैसे एक दिन पहले ही शाम को वे सब चीजें लाकर रख दिया करेगा जिनकी दूसरे दिन जरूरत होगी और माँ कैसे बिना नौकर की सहायता के काम चलायेगी···लेकिन मैंने सदा देखा कि जब रात का खाना पकता तो माँ नौकर के लिए बड़े प्यार से खाना पकाती और बेटे साहब उसे मना कर लाते।

मेरी दशा अपने उस पंजाबी मित्र से भिन्न नहीं। मेरी बीबी स्वयं खाना न पका सकती हो, यह बात नहीं। वह इतना अच्छा खाना पकाती है कि एक बार शादी के बाद मैंने सोचा था उसे दूसरा काम न करने दूँगा। लेकिन जो स्त्री मुख्य अध्यापिका के रूप में स्कूल का, जूनियर कमाण्डर के रूप में सैनिक-विभाग का और प्रकाशक के रूप में एक प्रकाशन-गृह का सारा काम अपने कंधों पर ले सकने की क्षमता रखती हो, उसे किचन की गुलामी में फँसाये रखना, मेरे निकट अन्याय है। मैं स्वयं कोई काम न कर सकता होऊँ, यह बात भी नहीं। वर्षों घर में झाड़ू देने और कपड़े धोने के अलावा मैंने बर्तन मले और खाना पकाया है। लेकिन ऐसा भी समय आ जाता है, जब आदमी चाहते हुए भी कुछ नहीं कर सकता और ऐसी स्थिति में मौसी जैसी नौकरानी बड़ा महत्त्व पा लेती है।

शहर में दूसरे नौकरों का एकदम अकाल पड़ गया हो और मैंने नौकर बदलने की कोशिश न की हो, यह बात भी नहीं। तीन बार मैं ऐसा करके देख चुका हूँ।

······एक बार मौसी पेट दर्द का बहाना करके किसी रिश्तेदार से मिलने चली गयी। बीबी मेरी बीमार थी। लाचार एक दूसरा नौकर ढूँढ लाया। चुस्त और चाक-चौबन्द। दिन भर उसने इस तेजी और सफाई से काम किया कि मैं और मेरी बीवी अश-अश कर उठे और हमें मौसी के दुर्गुण कई गुना बड़े होकर दिखायी देने लगे और पहली बार मालूम हुआ कि हम किस जाहिल के साथ दिन काटते रहे हैं। लेकिन दूसरी सुबह उठे तो नौकर साहब गायब। किचन में जाने पर मालूम हुआ कि तरकारी काटते-काटते कहीं गये हैं। जब दिन के बारह बज गये और वे तशरीफ़ न लाये तो चिन्ता हुई। खोज-खबर ली कि कहीं कुछ ले तो नहीं गये, तब पता चला कि मेरी मेज की दराज़ से पार्कर कलम, एक घड़ी और एक बटुआ गायब है।

······दूसरी बार जब मौसी बीमार पड़ी तो मैं एक खानसामा ले आया, जिसके पास कई अंग्रेज़ों के सर्टिफ़िकेट थे। शाम की चाय हम पी चुके थे कि सहसा छः बजे के करीब एक मित्र आ गये और मैंने कहा कि दो प्याले चाय ट्रे में भिजवा दो। जब बड़ी देर तक चाय न आयी तो मैं स्वयं किचन में गया। "साब चाय के वक्त हम चाय देगा, सारा दिन हम चाय नहीं देगा।" मैंने उनके सर्टिफिकेटों में एक और की वृद्धि कर उसे दूसरे ही दिन नमस्कार किया।

······तीसरी बार मौसी ने नोटिस दिया कि वह दो दिन के लिए एक शादी पर जायगी। चूँकि उसके दो और दस दिन में कोई अन्तर नहीं, इसलिए मैंने एम्प्लायमेंट एक्स्चेंज को फ़ोन किया कि मुझे तत्काल एक कुक चाहिए। दोपहर ही को शक्ल से साईस लगने वाला एक पतला-दुबला मझोले कद का आदमी दफ्तर की चिट लेकर आ पहुँचा। उसकी टाँगें परकार की तरह किंचित बाहर को निकली हुई थीं। अपने कद बुत से कहीं बड़ा खुला गर्म कोट और पिचकी सी गोल टोपी उसने पहन रखी थी। मौसी दोपहर का खाना बनाकर चली गयी थी। मैंने अधिक पूछ-ताछ न कर उसे ले जाकर किचन दिखाया और समझाया कि किस प्रकार इस घर का काम चलता है।

"बस बाबू जी दो-एक दिन हम देख लें···फिर आपको कोई शिकायत न होगी ।"

बरतन पड़े थे, सो उसने मल दिये । रोटी काफ़ी बची पड़ी थी सो उसने डट कर उस पर हाथ साफ़ किया । मैं दफ्तर मे चला गया । शाम को आया तो देखता हूँ कि रसोई-घर में व्यस्त होने के बदले कुक महोदय किचन के आगे की खाली जगह में क्यारियाँ बना रहे हैं ।

"अरे भाई तुम यह सब क्या कर रहे हो ?" मैंने किंचित् खीझ कर कहा, "चाय का वक्त हो गया है, कुछ चाय-वाय बनाओ !"

"सरकार एक बार बहू जी बना कर दिखा दें तो हम सब बना दिया करें । कोई ज्यादा पत्ती पीता है, कोई कम ।"

"तो यह तुमने पहले क्यों नहीं कहा । यह सब तुम क्या कर रहे हो ?"

"सरकार खाली जगह है । मैंने सोचा क्यारियाँ बना दूँ । 'फ्लाग' यहाँ बड़ी बहार देगा, इधर 'डेलिया' की कतार लग जायगी, उधर 'स्वीट सुलताना' मुस्करायेगी और इस जगह······"

"तो क्या तुम माली हो ?"

"सरकार, मैं टाइल (टाइल्ज़) साब के यहाँ साईस था, पर साब लोग सब इंग्लिस्तान चले गये । तब मैं माली का काम करने लगा । साब आप एक घोड़ा-गाड़ी रखिए, फिर हमारा काम देखिए !"

"तो क्या तुम कुक नहीं हो ?"

"बहू जी सिखा देंगी तो वह काम भी सीख लूँगा ।"

संक्षिप्त यह कि पन्द्रह दिन तक रोटी पकाने के बदले कुक महोदय क्यारियाँ बना कर उनमें फूल लगाते रहे । इतना ही गनीमत है कि जैसे-तैसे बर्तन मल देते थे । हमारा तो क्या पकाते—उनका खाना भी पत्नी को पकाना पड़ा । आखिर यह वचन देकर मैंने

उनसे मुक्ति पायी कि ज्यों हो मैं घोड़ा-गाड़ी रक्खूंगा, उन्हें अवश्य याद करूँगा !

ऐसे वक्त में मौसी के सिवा हमें कहीं त्राण नहीं मिलता। वह सुस्त और जाहिल है तो क्या हुआ, परले सिरे की ईमानदार, सहनशील और शान्त भी तो है। ऐसे नौकरों का मिलना, जिनमें मौसी के गुण तो हों, लेकिन दुर्गुण न हों, मेरे ख्याल में यदि असम्भव नहीं तो कठिन जरूर है। हम जैसे कमजोर नसों के आदमियों को जितनी जल्दी क्रोध आता है, उतनी ही जल्दी उतर भी जाता है। पर मालिक के क्रोध पर यदि नौकर को भी क्रोध आये तो मालिक का भगवान ही मालिक है। गुरु भी गर्म और चेला भी गर्म तो बात कैसे बने? मौसी का यह दुर्गुण कि लाख बके जाओ, उसके कान पर जूं नहीं रेंगती मेरे निकट उसका सब से बड़ा गुण है। उसके कान पर जूं रेंगने लगती तो ये आठ बरस कैसे बीतते, इसकी कल्पना भी कष्ट-प्रद है। मैं यह तो चाहता हूँ कि मौसी ठीक से काम करने लगे, लेकिन उसकी जगह दूसरा नौकर रखने की कल्पना नहीं करता। उसे भी जैसे इस बात का विश्वास है कि ये लोग दस नौकर रखें, मेरे बिना इनका काम नहीं चल सकता, जबाब देने के बावजूद, जब-जब मैंने उसे फिर बुलाया है, बिना ताना-तिश्ना दिये चुपचाप आ गयी है, जैसे कुछ हुआ ही नहीं।

हमारा जीवन कुछ ऐसा अनियमित है कि कोई भी चीज समय से नहीं होती। हम लाख प्रोग्राम बनाते हैं कि सुबह छः बजे उठेंगे, नहा-धोकर आठ बजे नाश्ता लेंगे, अव्वल तो बारह, नहीं तो साढ़े-बारह लंच पर बैठ जायेंगे, चार-साढ़े चार चाय और रात को आठ-साढ़े-आठ डिनर ले लेंगे। लेकिन अपवाद स्वरूप एक-आध-दिन इस प्रोग्राम पर चले हों तो कह नहीं सकता, नहीं तो जिस दिन सुबह छः बजे उठने का प्रोग्राम बनाते हैं, उसी दिन रात को मित्र आ जाते हैं या सैर में देर हो जाती है या मेरा लिखने का मूड होता है या कहीं सभा अथवा डिनर अथवा कोई दूसरा प्रोग्राम होता है। एक-डेढ़ बजे सोते

हैं, सुबह आठ बजे उठते हैं और सारे प्रोग्राम धरे के धरे रह जाते हैं।

आफिस घर में होने से कई बार ऐसा भी होता है कि लोग अपनी दूकान बन्द करके जरूरी आर्डर लेने आ जाते हैं अथवा अपने सब काम निबटा कर हमसे मिलने आ जाते हैं और हम अपनी सुविधा का खयाल छोड़ कर, चाबी लेकर दफ्तर चले जाते हैं और जल्दी सोने और जल्दी उठने का प्रोग्राम पूरा नहीं हो पाता।

फिर मेरी पत्नी को चाय पीने का बड़ा शौक है। Every time is tea time, चाय कम्पनी का यह मॉटो उसने जैसे अपने लिए अपना लिया है और जिस तरह अच्छे पीने वाले सदा यह पसन्द करते हैं कि जब वे पीने को बैठें तो अकेले न हों, उसी तरह मेरी पत्नी भी अकेले कभी चाय नहीं पीती। और हालांकि मुझे कभी चाय की आदत नहीं थी, उसके इसी स्वभाव के फलस्वरूप मैं भी खूब चाय पीने लगा हूँ। चूँकि चाय हर वक्त मिल सकती है और अँगीठी सुबह छः से रात के दस-साढ़े-दस तक सुलगती रहती है, इसलिए मित्र जब भी आयें मेरी पत्नी चाय बनवाती है। मित्रों की आवभगत भी हो जाती है और वह स्वयं भी एक कप पीने का बहाना पा जाती है।

मौसी ने कभी आज तक (जब तक कि हमीं ने उसे ऐसा करने का आदेश न दे दिया हो) चाय बनाने से इन्कार नहीं किया। यह और बात है कि उसे पाँच मिनट में चाय लाने को कहो तो वह आध घंटे में लाती है। कई बार (विशेषकर सर्दियों में) ऐसा भी हुआ है कि रात के साढ़े-दस-ग्यारह बजे जब मौसी रसोई घर बन्द करके जाने वाली होती है, मेरी पत्नी काफी पीने की इच्छा प्रकट करती है और मौसी मेरी ओर देखकर, जरा-सा हँसते हुए, आँखें तरेर कर कहती है—"देखें भइय्ये बहू अब कॉफी माँगत हैं।" और मैं कहता हूँ, "यह कोई टाइम है कॉफी का। अब जाओ सो रहो, सुबह तुम्हें जल्दी उठना होगा, बच्चों के नाश्ते के लिए।" और मेरी बात सुनकर मेरी पत्नी कहती है, "अच्छा ठीक है मौसी, तुम जाओ। अब नहीं पीते।"

मौसी कुछ नहीं कहती। चली जाती है और जब आध-एक घंटे बाद में सोने की तैयारी कर रहा होता हूँ तो देखता हूँ कि मौसी कॉफी लिए हुए चली आ रही है।

मैं झल्लाता हूँ, "मौसी तुम बहू की आदत बिगाड़ती हो। तुम से कितनी बार कहा है कि बहू को बार-बार कॉफी न दिया करो। यह न मानें तो मुझे बताया करो।"

"अरे भइय्ये अब ये काम करत-करत थक जात हैं। वह अपने उसी ढीले स्वर में कहती है और उसके स्वर में कुछ ऐसी ममता होती है कि मन अभिभूत हो जाता है।

मौसी चली जाती है तो पत्नी मौसी के उन गुणों का बखान करती है जो उसके दुर्गुणों के नीचे दबे रहते हैं, लेकिन जो साधारण नौकरों में एकदम अप्राप्य हैं और सोचती है कि मौसी न रहेगी तो हमारी क्या दुर्गति बनेगी। और मैं कहता हूँ—She is a treasure! और हम दोनों सोचते हैं कि मौसी बूढ़ी हो गयी है। उससे जल्दी काम हो ही कैसे सकता है। और हम निश्चय करते हैं कि नौकर हम चाहे और रखें, पर मौसी को निकालेंगे कभी नहीं।

मौसी मेरे छोटे बच्चे से बड़ा प्यार करती है। वह उसे तंग करता है, परेशान करता है लेकिन यदि मजाक में भी मौसी को निकालने की बात हो तो वह (यद्यपि अब यथेष्ट बड़ा हो गया है तो भी) आँखें भर लाता है।

मैं इस बात को पसन्द नहीं करता कि मेरे बच्चे नौकरों से किसी तरह की बदतमीजी से पेश आयें। मैं स्वयं भी अस्वस्थता या परेशानी में ही कभी चिल्लाता या झल्लाता हूँ, पर बच्चे तो मेरी उस विवशता को नहीं देखते। मेरी नकल में मुझ से एक कदम आगे बढ़ जाते हैं। एक बार मेरे छोटे लड़के ने मौसी को बुरी तरह डाँट दिया और मौसी ने हँसते हुए कहा, "देखें भइय्ये, गुड्डे भइय्या हमें डाँटत हैं।"

जाने मैं बड़ा व्यस्त था, थका था या अस्वस्थ था, मुझ पर खून सवार हो गया। मैंने उसे आवाज दी और बढ़ कर ज़ोर का एक चाँटा उसके मुँह पर जमा दिया। वह रोता हुआ मौसी की गोद में जा छिपा। मैंने लाख जतन किया, पर मौसी ने उसे नहीं छोड़ा। सहम के मारे लड़के का रंग फक हो गया और मौसी रोने लगी।

जाने कैसे उस क्रोध में भी मन आर्द्र हो आया। मैं चुपचाप अपने कमरे में चला गया और फिर बाहर नहीं निकला।

हम दोनों पति-पत्नी चाहे कारोबार चलाते हैं और लोग हमें बड़ा सफल समझते हैं। बीसियों ताने मिलते हैं। और झूठ-सच बीसियों अफवाहें हमारी चतुराई के बारे में प्रचलित हो गई हैं, लेकिन हिसाब-किताब से हम दोनों की जान जाती है। ताले, चाबियाँ हम इस जन्म में तो नहीं सम्हाल सकते, अगले जन्म की राम जाने। यह बात नहीं कि हम ताले नहीं लाते। कई बार दस-दस ताले लाते हैं और सब जगह लगाते हैं, फिर कैसे एक जगह का ताला दूसरी जगह चला जाता है और कैसे चाबियाँ गुम हो जाती हैं, इसके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता। चाबियाँ टाँगने के लिए दफ्तर और घर दोनों में दीवार पर बोर्ड लगवाये हैं, उन पर हुक और चाबियों पर कार्ड-बोर्ड की छोटी-छोटी तख्तियाँ लगाकर गोदाम, दफ्तर, ट्रंक इत्यादि लिखवाये हैं, लेकिन परिणाम कुछ नहीं निकला। घर में सब कुछ प्रायः खुला रहता है। हम बाहर जाते वक्त बिना किवाड़ बन्द किये निकल आते हैं और मौसी को आवाज देकर कहते हैं, "मौसी हम बाहर जा रहे हैं, घर खुला है।"

मौसी सब दरवाजे, खिड़कियाँ बन्द करती है, वहाँ का ताला न मिले तो किचन का ताला लगाती है और हम निश्चिन्त घूमते हैं।

एक बार हमें किसी जगह बड़े जरूरी काम से जाना था और समय से पहुँचना था। बीवी ने कपड़े बदलकर दराज से कानों के आवेज और

लॉकेट निकाला। पर मेरे जल्दी मचाने के कारण उन्हें वह पहनते ही बाहर निकल आयीं और दराज बन्द करना भूल गयीं। मौसी को आवाज दी कि घर सम्हालो और हम चले गये।

जब हम काफी दूर निकल आये तो पत्नी ने कहा, "मैं दराज बन्द करना भूल गयी। चाबी, लगता है, उसी में लगी रह गयी।"

मैंने क्रोध से कहा, "अब चलो, जो होना है, अब तक हो चुका होगा।"

दराज में पत्नी के गहने ही न थे दफ्तर का हजार-डेढ़ हजार रुपया भी था।

जब हम रात को वापस आये तो देखा मौसी सब दरवाजे बन्द किये बाहर बराण्डे में बैठी है।

"मौसी दरवाजे हमारे जाते ही बन्द कर लिये थे?" पत्नी ने रिक्शा से उतरते ही पूछा।

"हाँ बहू।"

"कोई आया तो नहीं था?"

"नहीं बहू।"

पत्नी ने चाबी ली और कमरा खोलकर अन्दर जाकर देखा—दराज वैसे ही आधा बन्द और आधा खुला था, चाबी उसमें लगी थी और सब चीजें ज्यों-की-त्यों थीं।

·········एक बार हम बाहर से आये। शापिंग करने गये थे। पत्नी ने दस दुकानें देखीं। चीजें पसन्द कीं, पर खरीदी एक नहीं। मेरी पत्नी की आदत है कि एक ही बार में कोई चीज नहीं खरीदती। पसन्द करके आती है और दूसरे-तीसरे दिन खरीदती है। हम बेहद थक गये थे, आकर बाहर बरामदे में ही बैठ गये। शायद कुछ मित्र आ गये या न जाने क्या बात हुई, रात को देर से सोये। सुबह मौसी चाय लायी तो उसके हाथ में मेरी पत्नी का हैण्ड-बैग भी था, जो वह रात को बाहर ही भूल गयी थी। चार-पाँच-सौ रुपये जो वह साथ ले गयी थी, उसमें ज्यों के त्यों थे।

"अब तू इहर-उहर बटुआ रख देत है । गुम हो जाई तो आफत हम गरीबन की आया ।" मौसी ने लगभग डाँटते हुए पत्नी से कहा ।

"इतनी बार चीजें गुम हुई हैं अम्मा, कभी तुम्हारी आफत आयी है ?" पत्नी ने कुछ ऐसे स्वर में कहा, जिसमें प्रसन्नता के साथ हल्के से लाड़ को मात्रा भी निहित थी । वह जब मौसी से बहुत खुश होती है तो सदा उसे अम्मा कहकर पुकारती है ।

और पत्नी की यह बात ठीक है । मौसी से और बीसों शिकायतें हों, यह शिकायत कभी नहीं हुई । तरकारी पड़ी-पड़ी सड़ जायगी, फल मुरझा जायेंगे, दही खराब हो जायगा, दूध फट जायगा, लेकिन मौसी हाथ नहीं लगायेगी । जब हम चिल्लायेंगे कि जब कोई दूसरा खाने वाला नहीं था तो तुमने स्वयं क्यों नहीं ले लिया तो उसका एक ही उत्तर है ।

"तू हमका कहे न रहे, कइसन लेई लेते ।"

मेरी पत्नी और मैं चूँकि कई बार सुबह आठ बजे से लेकर रात के आठ बजे तक दफ्तर में काम करते रहते हैं, इसलिए घर देखने वाला कोई नहीं और कभी-कभी इच्छा होती है कोई ऐसी औरत घर में रहे जो कपड़े-लत्ते, गहने-पत्ते की देख भाल कर सके और समय से सब्जी तरकारी मँगाकर खाना खिलवा सके । बम्बई में रहते थे तो वहाँ ऐसी ट्रेण्ड आया मिल जाती थी, जो यह काम खुश-असलूबी से कर लेती थी, लेकिन इलाहाबाद में वैसी सुविधा नहीं । पिछले दिनों मेरी पत्नी ने एक दूर पार की सम्बन्धी महिला को घर में आश्रय दे दिया । धीरे-धीरे उन्होंने घर पर अधिकार जमा लिया । दुर्भाग्य से उन दिनों घर में कुछ मेहमान आये हुए थे । उन्होंने कुछ इस प्रकार समय से खाने का प्रबन्ध किया, स्वयं रिक्शा लेकर बाजार से सब्जी-तरकारी लाकर नयी से नयी तरकारियाँ और फल खिलाये कि मन बड़ा प्रसन्न हुआ । धीरे-धीरे उन्होंने गोदाम को ताला लगा दिया, डोली को ताला लगा दिया । बहुत दिन तक यह बात मुझ से छिपी रही ।

लेकिन एक दिन जब मैं बे-वक्त खाने पर बैठा और मैंने अचार माँगा और मौसी उनसे ताली माँगने गयी तो मुझे बड़ी उलझन हुई। "यह ताला किसलिए लगाया जाता है। कौन है जो यह खाने की चीजें उठा ले जायगा ?" मैं बड़बड़ाया।

चार-छः महीने काम ठीक चला, फिर धीरे-धीरे शो एक बार किचन में मौसी से उनकी तकरार हो गयी। फिर घर से चीजें गायब होने लगीं। ऐसे ही इधर-उधर रखे पैसे-रुपये गायब हुए, इधर-उधर पड़े कपड़े गायब हुए, कुछ बर्तन गायब हो गये। दबी जबान से उन्होंने कहा कि आपने मौसी, उसकी बहन और घर में सफाई करने वाली जमादारिन को बड़ी छूट दे रखी है।

मैं उनका इशारा समझ गया और मैंने कहा, "माता जी, आठ बरस से ये लोग काम करती हैं, यहाँ कभी कोई चीज नहीं गयी।"

एक दिन मैं शाम को दफ्तर से डाइनिंग रूम में आया तो मौसी शिकायत भरे स्वर में बड़बड़ाने लगी।

"बूढ़ा-बूढ़ा खात हैं और बच्चन लोग मुँह ताकत हैं।"

पूछने पर पता चला कि लड़का स्कूल से आया था, डोली को चाबा लगी थी, माता जी कहीं गयी हुई थीं। बच्चे को नाश्ता नहीं मिला और मौसी ने बताया कि वे महिला खुद खूब खाती हैं और बच्चों को नपा-तुला देती हैं। लड़कों ने भी शिकायत की कि जब देखो डोली में ताला लगा रहता है।

उसी रात मैंने उनसे चाबी ले ली और कहा कि कहीं ताला-वाला लगाने की जरूरत नहीं। कुछ दिन बाद वे चली गयीं। जाते-जाते कुछ और चीजें उठा ले गयीं। लेकिन हमने सुख की साँस ली।

एक वर्ष उन्हें गये हो गया है। घर खुला रहता है। कपड़े-लत्ते, पैसे-रुपये उसी तरह खुले रहते हैं, लेकिन किसी चीज के गुम होने की शिकायत नहीं सुनायी दी। मौसी पूर्ववत् घर सम्हाले हुए हैं।

मेरी पहली पत्नी से एक लड़का है जो अब बड़ा हो गया है, और कालेज में पढ़ता है। वह मेरे साथ कम ही रहा है। पहले अपनी दादी के पास रहा। फिर चचा-तायों के पास। फिर आया तो कई बार घर से भाग-भाग गया।

पिछली बार वह बम्बई भाग गया और दो साल उसने वहाँ बड़े कष्ट सहे, काफी अनुभव प्राप्त किये और वापस आया तो मैंने यथेष्ट सुलझा हुआ पाया। स्वभाव में वह अपनी माँ पर है। बड़ा संवेदनशील, उदार-दिल और कम बोलने वाला। सभी युवकों की तरह वह अपने माता-पिता को कई बातों में अपनी अपेक्षा कम समझदार पाता है। उसे यह समझ में नहीं आता कि हम क्यों इतना चिल्लाते हैं। क्यों नहीं ऐसी व्यवस्था की जाती कि मौसी को डाइनिंग रूम में बैठे-बैठे जब-तब आवाजें देने की जरूरत न पड़े।

और पिछले वर्ष की बात है एक दिन मैंने देखा कि वह किचन में बिजली की घंटी फ़िट करवा रहा है। डाइनिंग रूम किचन से दूर है। काफ़ी लम्बी तार लगानी पड़ी। बटन डाइनिंग रूम में फ़िट करवा के उसने बड़े गर्व से मेरी ओर ऐसे देखा जैसे कह रहा हो कि होंगे आप बड़े लेखक, लेकिन आपको समझ कुछ भी नहीं। अब देखिए कोई जरूरत है मौसी को चिल्ला कर बुलाने की। चुप से घंटी बजा दी और वह अपने आप घंटी की आवाज़ के साथ खिंची चली आयेगी। आप लोग हैं कि चिल्ला-चिल्ला कर कम्पाउण्ड सिर पर उठा लेते हैं।

लेकिन मौसी कभी घंटी की आवाज़ के साथ नहीं आयी।

खाना खाते-खाते किसी चीज़ की जरूरत पड़ती है या मौसी रोटी लाने में देर करती है तो मेरा लड़का घंटी का बटन दबाता है। मौसी न उत्तर देती है न आती है।

लड़का कुछ देर प्रतीक्षा करता है और अब के दो बार बटन दबाता है।

मौसी फिर भी कोई उत्तर नहीं देती।

कुछ झिल्लाहट के साथ वह फिर एक बड़ी लम्बी घंटी बजाता है।

मौसी की तरफ से फिर भी किसी तरह की सुन-गुन का आभास नहीं मिलता।

तब अपना स्वाभाविक गाम्भीर्य तज कर, वह ऊपर से मौन पर अन्तर में झल्लाया हुआ किचन में पहुँचता है।

मौसी रोटी बेल रही होती है या अँगीठी को पंखा कर रही होती है या आटा सान रही होती है।

"मौसी तुम्हें घंटी नहीं सुनायी दी?"

"सुनत तो रहे।"

"तो फिर जवाब क्यों नहीं दिया?"

"देखत तो हौ, हम क्या खाली रहे।"

"तुम्हारे हाथ आटा सान रहे हैं या ज़बान भी आटा सान रही है?"

मौसी इसका भी उत्तर नहीं देती। मुँह उठा कर पूछती है—"का कहत हौ?"

"कहते हैं तुम्हारा सिर," लड़का कहना चाहता है, लेकिन कुछ नहीं कहता। भुनभुनाता हुआ आकर बैठ जाता है और मुँह फुला लेता है।

मैं मुस्कराता हूँ तो उसका मुँह और भी फूल जाता है।

और अब साल भर बाद स्थिति यह है कि घंटी और मौसी अपनी-अपनी जगह कायम हैं और हमारे घर का काम पहले ही की तरह चलता है।

एकाकी तारा

श्री 'अज्ञेय'

[जीवन-परिचय—अज्ञेय जी का पूरा नाम सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन है। आपका जन्म कसिया (गोरखपुर) में सन् १९११ में हुआ। आपके पिता प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता हीरानन्द थे। अपने खोज के कार्य के निमित्त आपको अनेक स्थानों का भ्रमण करना पड़ता था। फलस्वरूप अज्ञेय जी को भी विभिन्न प्रान्तों के भ्रमण का सुअवसर प्राप्त हुआ। सन् १९३० में जब आप एम० ए० में पढ़ रहे थे, क्रान्तिकारी आन्दोलन में सक्रिय भाग लेना शुरू कर दिया। विद्यार्थी जीवन में ही आपको जेलयात्रा करनी पड़ी। जेल से मुक्त होकर आपने समाचार पत्र, पत्रिकाओं का संपादन कार्य संभाला। विशाल भारत, सैनिक, प्रतीक तथा अंग्रेजी पत्रिका 'थाट' के आप सम्पादक रहे हैं।

अज्ञेय जी असाधारण प्रतिभा सम्पन्न हैं। कहानी, नाटक, कविता, उपन्यास, आलोचना सभी में आपकी प्रखर प्रतिभा का तेज फूट पड़ता है। काव्य कला के अतिरिक्त आप मूर्तिकला में भी दक्ष हैं। साहित्य के क्षेत्र में आप नूतन शैली एवं मौलिकता के लिए प्रसिद्ध हैं। मनोवैज्ञानिक शैली पर चरित्र चित्रण तथा कथोपकथन की सृष्टि अज्ञेय जी के कथा साहित्य की सर्व प्रमुख विशेषता है। कहीं कहीं आपने गहन मानसिक गुत्थियों को सुलझाने का भी प्रयत्न किया है। आपकी भाषा संस्कृतनिष्ठ होने पर भी अपूर्व सौन्दर्य एवं रमणीयता लिए हुए है। भावाभिव्यक्ति एवं विचार गरिमा का सफल वाहन होने की दृष्टि से आपकी भाषा बीसवीं सदी के लेखकों में मूर्धन्य

मानी जाती है। भाव और भाषा दोनों ही दृष्टि से आप उच्चकोटि के कलाकार हैं। भ्रमण में आपकी विशेष रुचि है। अभी हाल में संस्करणों का एक संकलन प्रकाशित हुआ है।

उपन्यासों में शेखर एक जीवनी, नदी के द्वीप बहुत प्रसिद्ध हैं। परम्परा, विपकथा, कोठरी की बात उच्चकोटि के कहानी संग्रह हैं। साहित्य के क्षेत्र में आप सतत प्रगति करते जा रहे हैं। हिन्दी जगत को आप से बहुत आशा है।]

ऐसा भी सूर्यास्त कहाँ हुआ होगा..............उस पहाड़ की आड़ में से सूर्य का थोड़ा-सा अंक दीख पड़ रहा है, और उसके ऊपर आकाश में बहुत दूर तक फैला हुई एक लम्बी वारिदमाला लाल-लाल दीख रही है, मानो प्रकृति के बालों की लाल-लाल लटे...........

या जैसे सूर्य को फाँसी लटका दिया हो, और किसी अज्ञात कारण से फाँसी को रस्सी खून से रंगी गई हो। प्रतीची की विशाल कोख भी तो मानो सूर्य को लीले जा रही हो।

सूर्यास्त हो गया है; पर वह स्त्री—या युवती—उसी प्रकार निश्चल खड़ी स्थिर दृष्टि से पश्चिमीय आकाश को देख रही है। आसपास के सुरम्य दृश्यो की ओर सामने बहती हुई छोटी सी पहाड़ी नदी के स्वच्छ अन्तर की ओर, सामने वाले पहाड़ की तलेटी से आती हुई बीन की अत्यन्त कम्पित क्षीण ध्वनि की ओर, उसका ध्यान नहीं जाता। वह अन्यन्त एकाग्र हो, समाधिस्थ हो, पश्चिम आकाश को देख रही है, मानो इसी पर उसका जीवन निर्भर करता है, मानो वह आकाश में बिखरे हुए रक्त को पी कर शक्ति प्राप्त करना चाहती है; किन्तु संजीवन न पाकर विष ही पाती है, फिर भी छोड़ नहीं सकती, मूर्च्छित भी नहीं होती।

सान्ध्य आकाश में थोथे सौन्दर्य के अतिरिक्त कुछ नहीं होता; किन्तु जो अपने हृदयों में ही एक काल्पनिक संसार बसाये हुए उसे देखने आते हैं, जिनके अन्दर थिरकती हुई, किन्तु अस्फुट, प्रसन्नता

होती है, या जो भीतर-ही-भीतर किसी गहरी वेदना से झुलस रहे होते हैं, उनकी तीखी अनुभूतियाँ उस आकाश में अपने सारे अरमानों का प्रतिबिम्ब पा लेती हैं, उनके लिए संसार की सम्पूर्ण विभूतियाँ, कोमलतम भावनाएँ, उसमें केन्द्रित हो जाती हैं—उस प्रदोष के आकाश में।

वह देख रही है, और देखती जाती है। इस दृश्य को उसने सैंकड़ों बार देखा है; उन दिनों में भी, जब उसमें उस थोथे सौन्दर्य के अतिरिक्त कुछ न था (उसके जीवन में भी ऐसे दिन थे—वह जो आज समझती है कि उस पर काल का बोझ अनगिनत वर्षों से पड़ा हुआ है!) और उन दिनों में भी, जबकि वह उसमें संसार की समग्र व्यथा और बेदना का प्रतिबिम्ब देख पाई है; पर वेदना का चिन्तन भी मदिरा की तरह है, ज्यों-ज्यों उन्माद बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसकी लालसा तीखी होती जाती है।

वह उसे उन्माद के पथ पर बहुत दूर अग्रसर हो गई है। एक परदा उसकी आँखों के आगे छा गया है, और एक सूर्यास्त के छायापट के आगे। पर इन तीनों पटों की आड़ से भी उसकी तीव्र दृष्टि आकारों को भेदती हुई चली जा रही है, वह देख रही है, पढ़ रही है जीवन के नग्न सत्यों को।

इस भीषण शिक्षा से चौंककर कभी-कभी उसकी दृष्टि एक दूसरी ओर फिरती है—उसके हाथ की ओर, जिसमें वह एक छोटा-सा पुर्जा थामे हुए है। वह पढ़ना नहीं जानती; पर आह! कितनी तीव्र वेदना से, कितनी मर्मभेदी उग्रता से, वह उस पुर्जे पर लिखी हुई दो चार पंक्तियों को देखती है, मानो उस के नेत्रों की ज्वाला से ही। पत्र का आशय जगमगा कर उसके हृदय में समा जायगा।

वह पढ़ना नहीं जानती; परन्तु पत्र में क्या है, वह पढ़वाकर सुन आई है—'भाई की तारीख परसों की लगी है—रात के नौ बजे'···बस इतना ही तो लिखा है।

आज ही वह परसों है—आज ही रात को तो वह नौ बजेंगे।

और फिर वह पहले की भाँति सूर्यास्त से वही शिक्षा ग्रहण करने लग जाती है।

वह है कौन ?

अपना नाम वह स्वयं नहीं जानती। जब यह बहुत छोटी थी, तब शायद उसके माता-पिता ने उसका नाम रखा था। पर जब से वह अनाथिनी हुई, जब से अपने भाई के साथ वह घर से निकल कर भीख माँगने लगी, जब एक दिन उसके भाई ने उसे शक्कर के नाम से नमक की एक फाँको खिला दी, और उसकी मुखाकृति देख हँस-हँसकर उसे चिढ़ाने लगा—'लूनी !' 'लूनी !' तब से वह अपना नाम लूनी ही जानती है।

जाने कैसे वे भीख माँगते-माँगते शहरों में पहुँच गये थे ? पर पहाड़ों और जंगलों में रहने वाले वे उन्मुक्त प्राणी वहाँ के वातावरण को नहीं सह सके। कुछ ही दिनों बाद भाई-बहन दोनों फिर पहाड़ों में लौट आये और गूजरों के यहाँ चरवाहे बन कर रोटी का गुजारा करने लगे। लूनी दिन भर ढोर चराया करती, और उसका भाई एक चट्टान पर बैठ कर गाया करता, या कभी-कभी कुछ पढ़ा करता। लूनी नहीं जानती कि वह पढ़ना कब और कहाँ सीख गया, कैसे सीख गया। कभी-कभी वह सवेरे नींद खुलने पर देखती कि उसके भाई का पता नहीं है—वह दो-तीन दिन तक गायब रहता, फिर कुछ नई किताबें लेकर लौट आता। पहली बार जब वह लापता हुआ, तब लूनी कितनी घबरा गई थी, पागल होगई थी; इतनी कि जब वह लौट कर आया तब उसे उलहना भी न दे पाई, उसे लज्जित-सा देख कर उससे चिपट गई थी और खूब रोई थी।

अब वह भाई लौटकर नहीं आयेगा—अब उससे लिपट कर रोने का भी सौभाग्य लूनी को नहीं प्राप्त होगा।

उसके बाद कितने दिन बीत गये थे ! लूनी का भाई उसे अधिकाधिक प्रेम करता जाता था—पर साथ ही साथ दूर भी हटता जा रहा था क्योंकि उसमें वह स्वयंभूति का भाव कम होता जा रहा था, और उसमें एक गम्भीर विचारवान् सचेष्ट स्निग्धता आती जा रही थी। लूनी उसे समझाती थी और नहीं समझती थी; उसका स्वागत करती थी और उससे खीझती थी।

दूर हटते-हटते एक दिन वह उस के पास से बिलकुल चला गया—दिनों के लिए नहीं वर्षों के लिए।

और जब वह लौट कर आया, तब लूनी नहीं रही थी, या स्मृति-भर रह गई थी। वह एक सम्पन्न गूजर के घर बैठ गई थी। वह उसकी विवाहिता भी नहीं थी, उसकी रखैल भी नहीं थी। लूनी ने अपने आपको मानों उसे दान कर दिया था, उसे अपना दान दे कर उसे विदा कर दिया था और स्वयं अकेली रह गई थी। कभी-कभी जब वह स्वयं अपनी परिस्थिति पर विचार करती, तब उसे जान पड़ता, उसके दो शरीर हैं, जो एक दूसरे के ऊपर खड़े हैं। एक में उसकी सम्पूर्ण आत्मा, उसका अपनापन बसा हुआ है, और लूनी के भाई की अराधना में लीन है, और दूसरा, निचला, केवल एक लाश-भर है। कभी-कभी दुरुपयोग से या शारीरिक अत्याचार से पीड़ित होकर यह लाश ऊपर की आत्मा के पास फरियाद करती थी, तो उस में एक क्षीण व्यथा-सी जागती थी, और कोई उत्तर नहीं मिलता था···जैसे कोई दान दी हुई गाय का कष्ट देखकर यही सोचकर रह जाता है कि अब मुझे इसके कष्ट निवारण करने का अधिकार नहीं रहा।

जब वह भाई लौटकर आया, तब लूनी उसे अपने पास ठहराती, तो क्या, उसके सामने भी नहीं हो सकी। वह चुप-चाप चला गया। परिस्थिति देखकर वह लूनी की मनःस्थिति भी समझ गया था। दूसरे दिन जब लूनी अवसर पाकर अपने पुराने आसन पर—उसी

चट्टान पर, जहाँ वह आज बैठी है---गई, तब उसका भाई वहाँ बैठा उसकी प्रतीक्षा कर रहा था। लूनी के हृदय के किसी अज्ञात कोने में यह भाव जागृत हुआ कि अब भी कोई उसे समझता है, और इसी भाव से स्तिमित होकर उसने अपना सिर भाई की गोद में रख दिया, रो भी नहीं पाई। भाई ने भी उसे पुकारा नहीं; थोड़ी देर चुप रहकर फिर धीरे-धीरे गाने लग गया। उस गाने का प्रवाह अर्थ के बोझ से मुक्त था, इसलिए वह लूनी के सारे मनोमालिन्य को बहा ले गया। जब उसने पुनः जागृत होकर अपनी कथा कह देने को सिर उठाया, तब कथा कहने की आवश्यकता ही नहीं रह गई थी! उसका भाई ही, न जाने क्या-क्या अनोखे विचार उसे सुना गया था, जो उसने समझे नहीं, जो उसे याद ही नहीं रहे; किन्तु जिनकी छाया उसकी स्मृति के परदे के पीछे कहीं सदा नाचती रहती है।

आज वह चट्टान पर बैठी यही सब सोच रही है, और सूर्यास्त के छाया पट से परे देख रही है।

क्या देख रही है? उसी भाई की आज तारीख पड़ी है, उसी भाई को रात के नौ बजे फाँसी होगी।

अँधेरा हो गया है। तलेटी में, चीड़ वृक्षों के झुरमुट में छिपे हुए छोटे से गाँव में कहीं आठ लड़के हैं। उस प्रशान्त वातावरण में इतनी दूर का स्वर स्पष्ट सुन पड़ता है। लूनी के सामने पहाड़ की चोटी के पास सान्ध्य तारा अकेला जगमगा रहा है। ज्यों-ज्यों आकाश में इधर-उधर तारे प्रकट होते जा रहे हैं, त्यों-त्यों वह भी अधिकाधिक प्रोज्ज्वल होता जा रहा है, मानो अपने एकछत्र राजत्व में विघ्न होते देखकर उत्तेजित हो रहा हो, और लूनी जिस एक घटना पर चिन्तन करने आई है, उसे सोच नहीं पाती; उसका मन निरन्तर उससे भिन्न विषयों की ओर झुकता है, और उन्हीं पर जमने का प्रयत्न करता है। वह तारों की प्रतिस्पर्द्धा देखकर उसी में अपने को भुला रही है—भुलाने का प्रयत्न कर रही है।

उसका जीवन भी एक अनन्त प्रतिस्पर्द्धा ही कर रहा है—एक प्रतियोगिता, जिसमें वह अकेली ही रही है। और वह सान्ध्य तारे को देखकर सोच रही है कि इस द्वन्द्वपूर्ण संसार में भी मैं कितनी सुखी रही हूँ। प्रकृति में लड़ाई ही लड़ाई, संहार ही संहार है; किन्तु वह कितनी निर्मल है—उस पर कैसी विराट् नैसर्गिक भव्यता छाई हुई है, जिसके सौन्दर्य में हम सुखी हो सकते हैं। मैं अपने इस संसार में कितनी सुखी थी—इस छोटे से संसार में, जो उसी साम्राज्य का एक अंश है, जिसके विरुद्ध मेरा भाई लड़ता है, जिसके विनाश पर वह तुला हुआ है। वह क्यों लड़ता है? क्यों सुखी नहीं हो सकता? इसमें उसका दोष है या राज्य का? यह उसकी प्रकृति की Idiosyncracy है, या राजत्व में अन्तर्हित कोई प्रगूढ़ न्यूनता? यदि लोगों की आत्मा अपने को सौन्दर्य से घिरा पाकर भी सुखी नहीं होती, केवल इसलिए कि उनके शरीर पर एक अपर शक्ति का बन्धन राज्य है,—तो यह उनकी कमी है, या उनके ऊपर राजत्व की।

यह आकाश के तारों की जो असंख्य टिमटिमाहट है, वह क्या अपने अस्तित्व का उन्मत्त उल्लास है, या विद्रोह की जलन?

शायद दोनों!

लूनी को याद आया, यही एक दिन उसके भाई ने कहा था। उसकी स्मृति के पीछे जिन वचनों की छाया चिरकाल से नाच रही थी, जिन शब्दों का अभिप्राय वह अभी तक नहीं समझ पाई थी, वे एकाएक सामने आ गये, उसकी समझ में समा गये। उसके भाई ने कहा था—सुख या दुःख ऐसे नहीं होते। राज्य—बाह्य नियन्त्रण—सुख भी नहीं देता, दुःख भी नहीं देता। इन दोनों का उद्भव मनुष्य के भीतर छिपी किन्हीं आन्तरिक शक्तियों से होता है। राज्य तो केवल एक शक्ति का ज्ञान देता है, एक भावना को जगाता है, एक उत्तरदायित्व की संज्ञा को चेता देता है; फिर वह दायित्व राज्य के

संघटन में पूर्ण होता है, या उसके विरोध में, इसका निर्णय करने वाली परिस्थितियाँ राज्य के नियन्त्रण में न कभी आई हैं, न आयेंगी। मुझ में—हम में—वह दायित्व जागा है; पर उसे चुकाने के लिए हमारे पास साधन नहीं, उसके पोषण के लिए सामग्री नहीं, इसीलिए हम दुःखी और अशान्त हैं, इसीलिए लड़ते हैं और लड़ना चाहते हैं।

ये निर्णय करने वाली शक्तियाँ क्या हैं? क्या उसके हृदय में स्वार्थ था, जिसके लिये वह लड़ा? जिसके लिये वह आज प्राणदण्ड का भागी हुआ?

ऐसे खिंचाव के समय इस घोर एकान्त ने लूनी को उद्भ्रान्त कर दिया था—या शायद उसकी सूक्ष्म बुद्धि को और भी पैना कर दिया था। सूर्यास्त के पट पर उसने देखा, उसके भाई के कार्यों का एक प्रमुख कारण वह स्वयं थी! उसके भाई के आदर्शों का एक स्रोत उसके लिए सुख कामना थी! क्यों? क्या वह ऐसे विद्रोह द्वारा सुख प्राप्त करना चाहती थी—प्राप्त कर सकती थी? क्या भाई को खोकर उसे सुख मिलेगा? नहीं, पर उसके भाई ने जो कुछ देखा, वह उसके दृष्टिकोण से नहीं, अपने दृष्टिकोण से देखा—यह शायद देखा ही नहीं, केवल एक चिरन्तन instinct के कारण अनुभव किया, ऐसे instinct के कारण, जो उसकी वसीयत में अत्यन्त प्राचीन काल से था—उस समय से जबकि पृथ्वी पर मानव जाति का अस्तित्व ही न था, उसके पुरखा वनमानुषों का भी नहीं, जब विवाह में जाति और वर्ण-विभेद न थे, जब 'पति-पत्नी' और 'भाई-बहन' एक ही स्वरक्षात्मक आर्थिक क्रिया की दो कलाएँ थीं।

लूनी ने भी यह सब अपनी बुद्धि से नहीं, एक instinctive चेतना से ही अनुभव किया, और यह अनुभव उसके बौद्धिक क्षेत्र में नहीं आ पाया। उसकी बुद्धि केवल एक ही निरर्थक-सी बात कह कर रह गई—'वह विद्रोही है।' कुछ एक दिनों के बौद्धिक शासन के इस

निर्णय के आगे उसकी चिरन्तन अराजकता से उत्पन्न वह पहली अनुभूति व्यक्त न हो पाई।

'वह विद्रोही है, और कुछ काल में वह मूर्तिमान विद्रोह होकर मर जायगा।'

लूनी अपनी थकी हुई, झुकी हुई गर्दन उठाकर आकाश की ओर देखने लगी। उसकी प्रगाढ़ नीलिमा को लाँघनेवाली आकाश-गंगा का धुँधलापन भी चमक रहा था। यह आकाश-गंगा है, या प्रकृति के उत्तप्त आँसू-भरे हृदय की भाप, या विश्व पुरुष के गले में फाँसी!

रात! तारे—तारे—तारे! लूनी के मन में एक विचार उठा, मैं इन्हें देख रही हूँ, वह भी एक बार तो इन्हें देख ही लेगा, और पहाड़ों की याद कर लेगा। तारे क्षणभर झपक लेंगे, जब जागेंगे, तब मैं इन्हें अपलक ही देख रही हूँगी; पर वह?

एक हल्की-सी चीख या गहरी-सी साँस······

लूनी के मन की दशा इस समय ऐसी विकृत हो रही थी कि इस अशान्तिमय विचार के बीच ही में उसे अपनी छोटी-सी लड़की, नहीं, उस सम्पन्न गूजर और लूनी की लाश की सन्तान, की याद आ गई, और साथ ही उसके पिता की। वे शायद इस समय उसे खोज रहे होंगे। बेटी अनुभव कर रही होगी, आज मुझे वह पागल प्यार देने वाली कहाँ है? और पिता सोच रहा होगा उसका दिमाग कुछ खराब हो रहा है, वक्त-बेवक्त जंगलों में फिरती है! जब लूनी वापस पहुँचेगी—पर लूनी तो यहीं रहेगी, वापस तो उसकी लोथ ही जायगी!—तब पिता उसकी विवशता पर अपनी भूख मिटायेगा, और बेटी अपनी विवशता के कारण भूखी रह जायगी, और—और वह, जिसके लिए लूनी आज इस चट्टान पर बैठी है, वह मर जायगा।

लूनी फिर सांध्य तारों की ओर देखने लगी, फिर उसका मन भागा—वर्तमान के विचार से दूर, भूत काल की ओर! उस दिन की ओर, जब वे शहर में भीख माँगते-माँगते उकताकर, शहर के

अन्तिम प्रदेश में आकर किसी साल के या युकलिप्टस के वृक्ष के नीचे आ पड़ते, और पेड़ की पत्तियों में अपने परिचित वनों की सृष्टि किया करते, उस दिन की ओर जब वे एकाएक मूक संकेत में ही एक-दूसरे के हृदय की प्यास को समझ कर, एक दूसरे का हाथ थामे शहर से निकल पड़े, अपने पहाड़ों के पथ पर; उस दिन की ओर, जब न-जाने कहाँ से पकड़ कर उसका भाई एक जल-मुर्गाबी लाया, और लूनी का करुण अनुरोध 'इसे छोड़ दो!' सुनकर क्षण भर विस्मित रह गया, और फिर उसे उड़ा कर धीरे-धीरे हँसने लगा; उस दिन की ओर, जब न जाने कैसे दोनों को एकाएक अपने पुरुषत्व और स्त्रीत्व का ज्ञान हुआ, दोनों अपने अकेलेपन का अनुभव करके जोर से चिपट कर गले मिले, और फिर लज्जित से होकर अलग हो गये; उस दिन की ओर, जब भाई ने उल्लास भरे स्वर में कहा— 'देख लूनी, मैं कविता लिखकर लाया हूँ,' और उसके विस्मित प्रश्न का उत्तर दिये बिना ही गाने लग गया; उस दिन की ओर; जब उसने कहा—'लूनी, अब मैं बहुत पढ़ गया हूँ, अब मैं तुम्हें सुखी करने के लिये लड़ूँगा,' और रात को लापता हो गया; इतने बरसों के बाद के उस दिन की ओर, जब कि उसके 'पति' ने इसे एक पत्र लाकर दिया और उपेक्षा से पूछा—'तेरा कोई भाई भी है ? उसी का है।' और उसके पूछने पर कि पत्र में क्या है, इतना-भर बता दिया कि वह आयेगा; उस दिन की लज्जा और ग्लानि की ओर, जिस दिन वह अपने भाई के सामने नहीं हो सकी, और वह बाहर ही से लौट कर चला गया; उस दिन की ओर जब वह चट्टान पर उसकी गोद में सिर रखकर बरसों से जोड़ी हुई कलुषा धो आई; उस दिन की ओर, जब वह फिर विदा लेकर चला गया, लूनी को सुखी करने के लिए; उस भयंकर दिन की ओर, जिसमें लूनी से किसी ने कहा कि उसका भाई पकड़ा गया है, और यह नहीं बता सका कि कहाँ और किस जुर्म में, उस दिन की ओर, जब कि उसका घोर अनिश्चय दूर करने को समाचार आया यह है कि भाई को प्राणदण्ड की आज्ञा हुई है, उस दिन की ओर, जब उसे भाई

का अपने हाथों लिखा पत्र आया, जिसे उसने कई बार पढ़ाकर सुना और कंठस्थ करके भी पूरा समझ न पाई, और अन्त में, वामन अवतार के पग की तरह, सम्पूर्ण सृष्टि को रौंद कर, उसके हृदय के कोमलतम अंश पर, जहाँ उसने भाई के जीवन की स्मृति को छिपा रखा था —उसी जीवन की, जो कि अभी थोड़ी देर मे नष्ट हो जायगा और अपनी स्मृतियों को बिखेर जायगा, जिसका स्थान शीघ्र ही अनझरे आँसू ले लेंगे।

लूनी की दृष्टि एक बार चारों ओर घूम कर, लूनी के आसपास बिखरी हुई विभिन्न फूलों की रूपराशि और भीनी गन्ध को, नदी पर थिरकते हुए धुंधले से आलोक को, तलहटी के चीड़ वृक्षों मे उठती हुई अज्ञात साँसों को, सामने के पहाड़ पर काँपती हुई बीन की तान को और पहाड़ की स्निग्ध श्यामता को पी गई, फिर एक अव्यक्त प्रश्न से भरी हुई वह दृष्टि उठी सान्ध्य तारे की ओर। उसका वह अव्यक्त प्रश्न एक थरथराती हुई प्रतीक्षा-सा बन गया।

आकाश में दो बड़े-बड़े सफेद आकार चले जा रहे थे—शायद बगुले···पर इनके पर कितने बड़े-बड़े जान पड़ते है, जैसे सारस के हों।

और उनकी गति कितनी प्रशान्त, मानो मृत्यु की तरह, मानो जीवन के अवसान की तरह निःशब्द।

नीचे गाँव में से कहीं घंटा खड़कने की ध्वनि आई। लूनी तनकर बैठ गई, उसकी ऐन्द्रिक चेतना अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई, किन्तु साथ ही उसके आगे, लूनी के शरीर-भर में, अँधेरा भर गया·········

तलहटी में कहीं चौंककर, फटी हुई वेदना के स्वर में टिटिहरी रोई—'चीन्हूँ! चीन्हूँ!' मानो अपने घोंसले पर काँपती हुई अज्ञात छाया को देखकर, एकाएक भयभीत वात्सल्य और स्वरक्षात्मक साहस से भरकर तड़प उठी हो, और उस छाया को ललकार रही हो।

लूनी का शरीर, उसकी आत्मा, ढीला होकर झुक गया। उसे जान पड़ा, एक निराकार छाया उसके पास खड़ी है और उसे स्पर्श कर रही है—उसे जान पड़ा, वहाँ कुछ नहीं है, वह अकेली हो गई है, लुट गई है, क्वारी ही विधवा हो गई है।

उसने देखा, शून्य में आकाश-गंगा विश्व-पुरुष के गले की फाँसी—को छूती हुई अकेली पताका ही उसकी सहचरी रह गई है।

जान्हवी

श्री जैनेन्द्र कुमार

[जीवन-परिचय---श्री जैनेन्द्र कुमार का जन्म सन् १६०५ में कौडिया-गंज अलीगढ़ में हुआ। आपके पिता मध्यवर्ग के व्यक्ति थे। बाल्यकाल म ही जैनेन्द्र को पिता के प्रेम एवं संरक्षण से वंचित होना पड़ा। आपकी माता ने ही आपका लालन पोषण किया। सातवीं श्रेणी तक आपने अपनी शिक्षा जैन-गुरुकुल ऋषि ब्रह्मचर्याश्रम हस्तिनापुर में पाई। इसके उपरान्त आपने प्राइवेट परीक्षा देकर दसवीं पास की। दो वर्ष तक काशी विश्वविद्यालय में शिक्षा ग्रहण की---उसी बीच में महात्मा गांधी का असहयोग आन्दोलन आरम्भ हो गया। आप भी देश प्रेम से प्रेरित हो जेल में चले गये। जेल में रहते हुए ही इन्हें लिखने की प्रेरणा हुई। सन् १६२८ में विशाल भारत में आपकी पहली कहानी 'खेल' प्रकाशित हुई। साथ ही आपका प्रथम उपन्यास 'परख' भी प्रकाशित हो गया जिस पर आपको हिन्दुस्तानी एकेडमी ने ५००) का पुरस्कार प्रदान किया। इस प्रकार एकदम जैनेन्द्र हिन्दी साहित्य में ख्याति को प्राप्त हुए। निरन्तर काव्य साधना करते-करते आज वह वर्तमान हिन्दी कलाकारों में अपना एक विशिष्ट तथा मूर्धन्य स्थान रखते हैं। अब तक की रचनाओं में आपके पाँच उपन्यास 'कल्याणी', 'परख', 'सुनीता', 'त्यागपत्र अनाम स्वामी' तथा 'एक रात', स्पर्द्धा, जयसंधि, ध्रुवतारा, नीलम, देश की राज कन्या, दो चिड़ियाँ (कहानी संग्रह) प्रसिद्ध एवं प्रमुख हैं। इसके साथ साथ आपने गद्य लेख भी लिखे हैं जो अपने विचारतत्त्व एवं गहन अध्ययन की दृष्टि से हिन्दी की महत्त्वपूर्ण निधि हैं।

जैनेन्द्र जी हिन्दी कथा साहित्य में अपनी चिन्तन शक्ति के कारण विशिष्ट स्थान रखते हैं। हत्या, चोर, तमाशा, परदेशी, ग्रामोफोन रिकर्ड, अन्धे का भेद, त्रिवेणी आदि आपकी सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ हैं। इन कहानियों में विचारतत्त्व की प्रधानता है, साथ ही अपनी सूक्ष्मता के कारण असाधारण हैं। कहानियाँ सांस्कृतिक भावना से ओत-प्रोत हैं। इनमें अहिंसा का दर्शन प्रधान रूप से अभिव्यक्त हुआ है। अहिंसा के सिद्धान्त की मौलिक ढंग से व्याख्या की गई है।

जैनेन्द्र जी मनोवैज्ञानिक कहानियों के प्रतिनिधि लेखक हैं। पात्र प्रायः समस्या बन जाते हैं—वे साधारणतः कुछ मानसिक प्रवृत्तियों के प्रतीक बन जाते हैं। उनके माध्यम से अन्तर्द्वन्द्वों का उद्घाटन बड़ा ही कौशलपूर्ण हुआ है। सूक्ष्म भावों की पकड़ जैनेन्द्र जी की निजी विशेषता है। दर्शन और मनोविज्ञान जैनेन्द्र की कहानियों में साथ-साथ चले हैं। इसीलिए कथोपकथन कहीं-कहीं सैद्धान्तिक से बन गए हैं तथा प्रवाह में कमी आ गई है।

जैनेन्द्र जी की भाषा भी सर्वसाधारण की न होकर चिन्तन की है। वह विषय के अनुरूप परिवर्तित होती है। अंग्रेजी, संस्कृत, फारसी शब्दों को आपने यथास्थान अपनाया है। व्यापकता एवं बोधगम्यता को लिए हुए उनकी भाषा सर्वत्र भावों का अनुगमन करती चलती है। उसमें मार्मिकता का गुण भी सर्वत्र देखने को मिलता है। शब्दों का लाक्षणिक प्रयोग भी मिलता है। प्रत्येक शब्द अपना निजी महत्त्व रखता है। आपकी शैली सहृदयता, स्वाभाविकता एवं सरसता को लिए हुए है।

आजकल आपकी रचनाओं में दर्शन का समावेश अधिक होता जा रहा है तथा अभिव्यक्ति में भी सूक्ष्मता की वृद्धि हो रही है। हिन्दी साहित्य में आपकी रचनाओं का विशेष आदर एवं सम्मान है।

आज तीसरा रोज है। तीसरा नहीं, चौथा रोज है। वह इतवार की छुट्टी का दिन था। सवेरे उठा और कमरे से बाहर की ओर झाँका

तो देखता हूँ, मुहल्ले के एक मकान की छत पर काँव-काँव करते हुए कौवों से घिरी एक लड़की खड़ी है और बुला रही है, "कौवो आओ, कौवो आओ।" कौवे बहुत काफी आ चुके हैं, पर और भी आते जाते हैं। वे छत की मुँडेर पर बैठे अधीरता से पंख हिला-हिला कर बेहद शोर मचा रहे हैं। फिर भी उन कौवों की संख्या से लड़की का मन जैसे भरा नहीं है। बुला रही है—"कौवो आओ, कौवो आओ।"

देखते-देखते छत की मुँडेर कौवों से बिल्कुल काली पड़ गई। उनमें से कुछ अब उड-उड़ कर लड़की की धोती से जा टकराने लगे। जिस पर लड़की गाने लगी—

"कागा चुन-चुन खाइयो······।"

साथ ही उसने अपने हाथ की रोटियों में से तोड़-तोड़ कर नन्हे-नन्हें टुकडे चारों ओर फेंकने शुरू किये। गाती रही—"कागा चुन-चुन खाइयो······।"

वह मग्न मालूम होती थी और अनायास ही उसकी देह थिरक कर नाच-सी जाती थी। कौवे चुन-चुन खा रहे थे और वह गा रही थी।

"कागा चुन-चुन खाइयो······।"

आगे वह क्या गाती है, कौवों के कलरव और उनके पंखों की फड़फड़ाहट के मारे साफ सुनाई न दिया। कौवे लपक-लपक कर मानो टूटने से पहले उसके हाथ से टुकड़ा छीन ले रहे थे। वे लड़की के चारों ओर ऐसे छा रहे थे, मानो वे प्रेम से उसको ही खाने को उद्यत हों। और लड़की कभी इधर, कभी उधर झूम कर घूमती हुई ऐसे लग्न भाव से गा रही थी कि जाने क्या मिल रहा हो।

रोटी खत्म होने लगी। कौवे भी यह समझ गये। जब एक टुकड़ा हाथ में रह गया, तब वह गाती हुई, उस टुकड़े को हाथ में फहराती हुई जोर-जोर से दो-तीन चक्कर लगा उठी। फिर उसने वह टुकड़ा

ऊपर आसमान की ओर फेंका और बहुत से कौवे एक ही साथ उड़कर उस पर झपटे। उस समय उन्हें देखती हुई लड़की हँस कर चीखती हुई सी आवाज में गा उठी—"दो नैना मत खाइयो···ओरे, पीउ मिलन की आस।"

रोटियाँ खत्म हो गईं। कौवे उड़ चले। लड़की एक-एक कर उनको उड़ कर जाता हुआ देखने लगी। पल भर में छत कोरी हो गई। अब अकेली उसके बीच में वही लड़की खड़ी थी। आस-पास बहुत से मकानों की बहुत-सी छतें थीं, जिन पर कोई होगा कोई न होगा। पर लड़की दूर अपने कौवों का उड़ते जाते हुए देखती रह गई या न जाने क्या देखती रह गई। गाना समाप्त हो गया था। धूप अभी फूटी ही थी। आसमान गहरा नीला था। उसके ओंठ खुले थे, दृष्टि स्थिर थी। जाने भूली सी वह क्या देखती रह गई थी।

थोड़ी देर बाद उसने मानो जग कर अपने आस-पास के जगत पर देखा। इसी की राह में क्या मेरी ओर भी देखा? देखा भी हो; पर शायद मैं उसे नहीं दीखा था। उसके देखने में सचमुच कुछ दीखता था, यह मैं कह नहीं सकता। पर कुछ ही पल के अनन्तर वह मानो वर्त्तमान के प्रति, वास्तविकता के प्रति चेतन हुई। और फिर बिना देर लगाये चटचट उतरती हुई नीचे अपने घर में चली गई।

मैं अपनी खिड़की में खड़ा-खड़ा चाहने लगा कि मैं भी देखूँ, कौवे कहाँ-कहाँ उड़ रहे हैं, और वे कितनी दूर चले गये हैं। पर मुश्किल से मुझे दो एक ही कौवे दीखे। क्या वे कहीं दीखते भी हैं? वे निरर्थक भाव से यहाँ बैठे थे, या वहाँ उड़ रहे थे। वे मुझे मूर्ख और घिनौने मालूम हुए। उनकी काली देह और काली चोंच मन को बुरी लगी। मैंने सोचा कि नहीं, अपनी देह मैं कौवों से नहीं नुच-वाऊँगा। छि: ! चुन-चुन कर इन्हीं के खाने के लिए क्या मेरी देह है? देह मन्दिर नहीं है? मानव देह और कौए—छि: !

जान पड़ता है, खड़े-खड़े मुझे काफी समय खिड़की पर ही हो

गया; क्योंकि इस बार देखा कि ढेर के ढेर कपड़े कंधे पर लादे वही लड़की फिर उसी छत पर आगई है। इस बार वह गाती नहीं है, पर वहाँ पड़ी एक खाट पर उन कपड़ों को पटक देती है। फिर उन कपड़ों में से एक-एक को चुन कर झटक कर वहीं छत पर सुखा देती है। छोटे-बड़े उन कपड़ों की गिनती काफी रही होगी। वे उठाये जाते रहे, झटके जाते रहे, फैलाये जाते रहे, पर उनका अन्त शीघ्र आता न दीखा। आखिर सब खत्म हो गये। लड़की ने सिर पर आये हुए धोती के पल्ले को पीछे किया। उसने एक अङ्गड़ाई ली, फिर सिर को जोर से हिला कर अनबँधे अपने बालों को छिटका लिया और धीमे-धीमे वहीं डोल कर उन बालों पर हाथ फेरने लगी। कभी बालों की लट को सामने लाकर देखता, फिर उसी को लापरवाही से पीछे फेंक देती। उसके बाल गहरे काले और लम्बे थे। मालूम नहीं उसे अपने बालों पर सुख था या दुख था। कुछ देर वह उँगलियाँ फेर-फेर कर अपने बालों को छिटकाती रही। फिर चलते-चलते एकाएक उन सब बालों को इकट्ठा समेट कर झटपट जूड़ा सा बाँध, पल्ला सिर पर खींच वह नीचे उतर गई।

इसके बाद मैं खिड़की पर नहीं ठहरा। घर में छोटी साली आई हुई है। इसी शहर के दूसरे भाग में रहती है और ब्याह न करके कालेज में पढ़ती है। मैंने कहा—"सुनो, यहाँ आओ।"

उसने हँस कर पूछा—"यहाँ कहाँ?"

खिड़की के पास आकर मैंने पूछा—"क्यों जी, जाह्नवी का मकान जानती हो?"

"जाह्नवी! क्यों, वह वहाँ है?"

"मैं क्या जानता हूँ कहाँ है? पर देखो, वह घर तो नहीं है?"

उसने कहा—"मैंने घर नहीं देखा। इधर उसने कालेज भी छोड़ दिया है।"

"चलो अच्छा है।"—मैंने कहा और उसे जैसे-तैसे टाला। क्योंकि वह पूछने-ताछने लगी थी कि क्या काम है, जाह्नवी को मैं क्या—कैसे—कितना जानता हूँ। सच यह था कि मैं उसे रत्ती भर भी नहीं जानता। एक बार अपने ही घर में इसी साली की कृपा और आग्रह पर एक निगाह देखा था। बताया यह गया था कि यह जाह्नवी है, और खुशी से मैंने मान लिया कि वह जाह्नवी ही होगी। उसके बाद की सचाई यह है कि मुझे कुछ नहीं मालूम कि उस जाह्नवी का क्या बन गया और क्या नहीं बना। पर किसी सचाई को बहनोई के मुँह से सुनकर स्वीकार कर ले तो सचाई क्या? तिस पर ऐसी सचाई की नीरसता। पर ज्यों-त्यों मैंने उसे टाला।

बात-बात में मैंने कहना भी चाहा कि ऐसी ही तुम जाह्नवी को जानती हो, ऐसी ही तुम साथ पढ़ती थीं। साफ कह दो मालूम नहीं लेकिन मैंने कुछ कहा नहीं।

इसके बाद सोमवार हो गया, मंगलवार हो गया और आज बुध भी होकर चुका जा रहा है। चौथा रोज है। हर रोज सवेरे खिड़की के पार दीखता है कि कौवे काँव-काँव छीन-झपट कर रहे हैं और वह लड़की उन्हें रोटी के टुकड़ों के मिस कह रही है—

"कागा चुन-चुन खाइयो।"

मुझको नहीं मालूम कि कौवे जो कुछ उसका खायँगे, उसे कुछ भी इसका सोच है। कौवों को बुला रही है—"कौवो आओ, कौवो आओ।" आग्रह कर रही है—"कौवो खाओ, कौवो खाओ", वह खुश है कि कौए आ गये हैं और वे खा रहे हैं; कौवों को खिलाने का आग्रह-पूर्ण निमंत्रण देते हुए भी मानों उन्हें ताकीद यही करना चाहती है कि—

"ये दो नैना मत खाइयो······।"

जो तन चुन-चुन कर खा लिया जायगा, उसको खा लेने में ऐ मेरे कौवो! खुशी से मेरी अनुमति है। वह खा-खू कर तुम सब

निबटा देना। लेकिन भाई! इन दो नैनों को छोड़ देना। वे निरर्थक नहीं हैं, निराश नहीं हैं। क्या तुम नहीं जानते कि उन नैनों में एक ग्रास भरी है, जो पराए के बस है। वह नैना पीय की बाट में हैं ऐ कौवो! वे मेरे नहीं हैं, मेरे तन के नहीं हैं। ये पीय की ग्रास भरे रखने के लिए हैं। सो उन्हें छोड़ देना।

ग्राज सवेरे भी मैंने यह सब कुछ देखा कि कौवों को रोटी खिला कर वह उसी तरह नीचे चली गई। फिर छोटे-बड़े बहुत से कपड़े धोकर लाई। उसी भाँति उन्हें छटक कर सुखा दिया। वैसे ही बाल बिखरा कर थोड़ी देर डोलो, ग्रौर सहसा ही उन्हें जूड़े में संभाल कर नीचे भाग गई।

जाह्नवी को घर में एक बार देखा था। पत्नी ने उसे खास तौर से देख लेने को कहा था, ग्रौर उसके चले जाने पर पूछा था—"क्यों, कैसी है?"

मैंने कहा था—"बहुत भली मालूम होती है। सुन्दर भी है। पर क्यों?"

"ग्रपने बिरजू के लिए कैसी रहेगी?"

बिरजू दूर के रिश्ते में मेरा भतीजा होता है। इस साल एम० ए० में पहुँचा है।

मैंने कहा—"ग्ररे ब्रजनन्दन! वह इसके सामने बच्चा है।"

पत्नी ने ग्रचरज से कहा—"बच्चा है? बाईस वर्ष का तो हुग्रा।"

"बाईस छोड़ बयालीस का हो जाय। देखा नहीं कैसे ठाट से रहता है। यह लड़की देखो कैसी सफेद साड़ी पहनती है। बिरजू इसके लायक कहाँ है? यों भी कह सकती हो कि ये बेचारी लड़की बिरजू के ठाट के लायक नहीं है।"

बात मेरी कुछ सही, कुछ व्यंग थी। पत्नी ने उसे कान पर भी न लिया। कुछ दिनों बाद मुझे मालूम हुग्रा, पत्नी जी की कोशिशों

से जाह्नवी के माँ-बाप (माँ के द्वारा बाप से) काफी आगे बढ़कर बात कर ली गई है। शादी के मौके पर क्या देना होगा, क्या लेना होगा, एक-एक कर सभी बातें पेशगी तै होती जा रही हैं।

इतने में सब किये-कराये पर पानी फिर गया। जब बात किनारे तक आ गई थी, तभी हमारे ब्रजनन्दन के पास एक पत्र आ गया। उस पत्र के कारण सब चौपट हो गया। और इस रंग में भंग हो जाने पर हमारी पत्नी जी का मन पहले गिर कर चूर-चूर-सा होता जान पड़ा, पर वह फिर उसी पर खुश मालूम होने लगीं।

मैं तो मानो इन मामलों में अनावश्यक प्राणी हूँ हाँ। कानों-कान मुझे खबर तक न हुई। जब हुई तो इस तरह:--

पत्नी एक दिन सामने आ धमकीं। बोली--"यह तुमने जाह्नवी के बारे में पहले से क्यों नहीं बतलाया ?"

मैंने कहा—"जाह्नवी के बारे में पहले से क्यों नहीं बतलाया, भाई !"

"यही कि वह ऐसी है ?"

मैंने पूछा—"ऐसी कैसा ?"

उन्होंने कहा—"ज्यादा बको मत, जैसे तुम्हें कुछ नहीं मालूम।"

मैंने कहा कि—"अरे, यह तो कोई हाईकोर्ट का जज भी नहीं कह सकता कि मुझे कुछ भी नहीं मालूम। लेकिन आखिर जाह्नवी के बारे में मुझे क्या मालूम है, यह तो मालूम हो !"

श्रीमती जी ने अकृत्रिम आश्चर्य से कहा—"बिरजू के पास खत आया है, सो तुमने कुछ भी नहीं सुना ? आजकल की···बस कुछ न पूछो। यह तो चलो भला ही हुआ कि मामला खुल गया। नहीं तो······।"

क्या मामला, कहाँ कैसे खुला और भीतर से क्या कुछ रहस्य

बाहर हो पड़ा, सो सब बिना जाने मैं क्या निवेदित करता। मैंने कहा—"कुछ बात साफ भी कहो।"

उन्होंने कहा—"वह लड़की आशनाई में फँसी थी। यह पढ़ी-लिखी सब एक जाति की होती हैं।"

मैंने कहा—"सबकी जात बिरादरी एक हो जाय तो बखेड़ा टले, लेकिन असल बात भी तो बताओ।"

"असल बात जाननी है तो जाकर पूछो उसकी महतारी से। भली समधिन बनने चली थी। वह तो मुझे पहले से ही दाल में काला मालूम होता था। पर देखो न, कैसी सीधी-भोली बातें करती थी। वहाँ तो देर क्या थी। सब हो ही चुका था। बस लगन-मुहूर्त की बात थी। राम-राम ! भीतर पेट में कैसा कालिख रक्खे है; मुझे पता न था। चलो आखिर परमात्मा ने इज्जत बचा ली। वह लड़की कहीं घर में आ जाती तो मेरा मुँह अब दिखाने लायक न रहता ?"

मेरी पत्नी का दर्शनीय मुख क्यों—किस भाँति दिखाने लायक न रहता, सो उनकी बातों से समझ में न आया। उनकी बातों में रस कई भाँति का मिला। कुछ देर के बाद मैंने उनसे तथ्य पाने का प्रयत्न भी छोड़ दिया, और चुपचाप पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म की बातें सुनता रहा। पता लगाने पर मालूम हुआ कि व्रजनन्दन के पास खुद लड़की यानी जाह्नवी का पत्र आया था। पत्र मैंने स्वयं देखा। उस पत्र को देखकर मेरे मन में कल्पना हुई कि अगर वह मेरी लड़की होती तो···? मुझे यह अपना सौभाग्य मालूम नहीं हुआ कि जाह्नवी मेरी लड़की नहीं है। उस पत्र की बात कई बार मेरे मन में उठी है, और घुमड़ती रह गई है। ऐसे समय चित्त का समाधान उड़ गया है, और मैं शून्य भाव से, हमें जो शून्य चारों ओर से ढके हुए है, उसकी ओर देखता रह गया।

पत्र बड़ा नहीं था। सीधे-सादे ढंग से उसमें यह लिखा था कि आप जब विवाह के लिए यहाँ पहुँचेंगे तो मुझे प्रस्तुत भी पायेंगे।

लेकिन मेरे चित्त की हालत इस समय ठीक नहीं है। और विवाह जैसे धार्मिक अनुष्ठान की पात्रता मुझमें नहीं है। एक अनुगता आपको विवाह द्वारा मिल जायगी, लेकिन विवाह द्वारा वैसी सेविका नहीं मिलनी चाहिए; धर्मपत्नी चाहिए। वह जीवन-सङ्गिनी भी हो। वह मैं हूँ या हो सकती हूँ, इसमें मुझे बहुत सन्देह है। फिर भी अगर आप चाहें, आपके माता-पिता चाहें तो प्रस्तुत मैं अवश्य हूँ। विवाह में आप मुझे लेंगे और स्वीकार करेंगे तो मैं अपने को रोकूँगी नहीं। अपने को दे ही दूँगी और आपके चरणों की धूलि माथे से लगाऊँगी, आपकी कृपा मानूँगी, कृतज्ञ होऊँगी। पर निवेदन है कि यदि आप मुझ पर से अपनी माँग उठा लेंगे, मुझे छोड़ देंगे तो भी मैं कृतज्ञ होऊँगी। निर्णय आप के हाथ है, जो चाहें करें।

मुझे ब्रजनन्दन पर आश्चर्य आकर भी आश्चर्य नहीं होता। उसने दृढ़ता के साथ कह दिया कि मैं यह विवाह नहीं करूँगा। लेकिन उसने मुझ से अकेले में यह भी कहा कि चाचा जी, मैं विवाह करूँगा ही नहीं। करूँगा तो उसी से करूँगा। उस पत्र को वह अपने से अलहदा नहीं करता है। और मैं देखता हूँ कि उस ब्रजनन्दन का ठाट-बाट आप ही आप कम होता जा रहा है। सादा रहने लगा है और अपने प्रति सगर्व बिलकुल भी नहीं दीखता है। पहले विजेता बनना चाहता था और ढोंग की बातें करता था, अब विनयावनत दीखता है और आवश्यकता से अधिक बात नहीं करता। एक बार एक प्रदर्शनी में मिल गया। मैं तो देख कर हैरत में रह गया। ब्रजनन्दन एकाएक पहचाना भी न जाता था। मैंने कहा—"ब्रजनन्दन, कहो क्या हाल है?"

उसने प्रणाम करके कहा—"अच्छा है।"

वह मेरे घर पर भी आया। पत्नी ने उसे बहुत प्रेम किया और बहुत-बहुत बधाइयाँ दीं कि ऐसी लड़की से शादी होने से चलो भगवान् ने समय पर रक्षा कर दी। जाह्नवी नाम की लड़की की

एक-एक बात बिरजू की चाची को मालूम हो गई है। वे बातें— ओह ! कुछ न पूछ बिरजू भैया ! मुँह से भगवान् किसी की बुराई न करावे। लेकिन···

फिर कहा—"भई, अब बहू के बिना काम कब तक हम चलावें, तू ही बता। क्यों रे अपनी चाची को बुढ़ापे में भी तू आराम नहीं देगा ? सुनता है कि नहीं ?"

ब्रजनन्दन चुपचाप सुनता रहा।

पत्नी ने कहा—"और यह तुझे हो क्या गया है ? अपने चाचा की बात तुझे भी लग गई है क्या ? न ढङ्ग के कपड़े, न ढंग की बातें ! उन्हें तो अच्छे कपड़े-लत्ते सोभते ही नहीं हैं तू क्यों ऐसा रहने लगा है, रे ?"

ब्रजनन्दन ने कहा, "कुछ नहीं चाची ! और कपड़े घर रक्खे हैं।"

अकेले पाकर मैंने भी उससे कहा—"ब्रजनन्दन, बात तो सही है। अब शादी करके काम में लगना चाहिए। और घर बसाना चाहिए। ठीक है कि नहीं ?"

ब्रजनन्दन ने मुझे देखते हुए बड़े-बूढ़े की तरह कहा—"अभी तो बहुत उमर पड़ी है चाचा जी।"

मैंने उस बात को ज्यादा नहीं बढ़ाया।

अब खिड़की के पार इतवार को, सोमवार को, मङ्गलवार को और आज बुधवार को भी सवेरे ही सवेरे छत पर नित-नित रोटी के मिस कौवों को पुकारकर बुलाने, खिलाने वाली यह जो लड़की देखता रहा हूँ, क्या वह जाह्नवी है ? जाह्नवी को मैंने एक ही बार देखा है, इसलिए मन को कुछ निश्चय नहीं होता है। कद इतना ही था; लावण्य शायद उस जाह्नवी में कुछ अधिक रहा होगा। पर यह वह नहीं है, जाह्नवी ही नहीं है, ऐसी दिलासा मैं मन को तनिक भी नहीं दे पाता हूँ। सवेरे ही सवेरे इतने कौवे बुला लेती है कि

खुद दीखती ही नहीं। काले-काले वे ही वे दीखते हैं। और वे उसके चारों ओर ऐसी छीन-झपट सी करते हुए उड़ते रहते हैं मानो बड़े स्वाद से बड़े प्रेम से चोंथ-चोंथ कर उसे खाने के लिये आपस में बदा-बदी मचा रहे हों। पर उससे घिरी वह कहती है—"आओ कौवो, आओ" जब वे आ जाते हैं तो गाती है।

"कागा चुन-चुन खाइयो.........."

और काग जब इकट्ठे के इकट्ठे काँव-काँव करते हुए चुन-चुन कर खाने लगते हैं और फिर भी खाँउँ-खाँउँ करते उससे भी ज्यादा माँगने लगते हैं तब वह चीख मचा कर चिल्लाती है—

"कि ओ रे कागा, नहीं, ये—
दो नैना मत खाइयो,
मत खाइयो
पीव मिलन की आस।"

शब्दार्थ

पृष्ठ १—अमित = बहुत अधिक, सीमा रहित। जितेन्द्रिय = इन्द्रियों को जीतने वाला।

पृष्ठ २—छरहरा = इकहरा शरीर वाला। निरीह = निर्दोष ।

सारांश

पृष्ठ ३—माँ ने मुँह पर से लिहाफ उठाया। यद्यपि बीमारी की तकलीफ के कारण उसके चेहरे पर उदासी छाई थी, तथापि उस उदासी के अन्दर भी डाक्टर साहब ने उसके हृदय की पवित्रता और मानसिक दृढ़ता की निर्मल किरणों को छनते हुए देखा। उन्होंने यह भी जान लिया कि भगवान् के अदृश्य कोप से यद्यपि यह रोगिणी इस छोटे से टूटे-फूटे सामान के साथ रहने को विवश कर दी गई है, किन्तु एक दिन यह जरूर अच्छे घर और बड़े सम्मान के साथ किसी सुयोग्य पति के हृदय की अधिकारिणी रही होगी।

पृष्ठ ४—तबियत भारी करना = दुःखी होना। परोपकाररत—दूसरे की भलाई में लगा हुआ।

पृष्ठ ५—गला भर आया = गद्गद् हो जाना। संसार से चल बसना = मृत्यु हो जाना। परिप्लुत = डूबा हुआ।

पृष्ठ ६—निरामिषभोजी = माँस न खाने वाला। आत्मीय = अपना (सम्बन्धी)।

पृष्ठ ७—हृदय में स्थान कर लेना = प्रेम-भाजन बनना। नामवरी = प्रसिद्धि।

सारांश

छुट्टियों के अत्यल्प काल में ही सरला ने उसके हृदय में स्थान पा लिया। उसे न मालूम क्यों हर समय सरला का ध्यान रहने लगा। वह अपने मन से भी इसका कारण कई बार पूछ कर कुछ भी उत्तर न पा सका था। परन्तु वह जाने या अनजाने—और जानने की जरूरत भी नहीं—प्रेम देव की पवित्र किरणों से उसका हृदयाकाश अवश्य ही आलोकित रहने लगा।

पृष्ठ ८—सहोदरवत् = भाई के समान। पुण्यतोया = पवित्र जल वाली। बिम्ब = परछाईं।

पृष्ठ ९—निवृत्त होना = छुटकारा प्राप्त करना।

पृष्ठ ११—यथासाध्य = शक्ति के अनुसार। शुभानुध्यायी = शुभ-चिंतक।

पृष्ठ १२—अस्तोदय = छिपना और उदित होना।

पृष्ठ १३—चित्तक्षोभ = मन का दुःख। करीने से = तरीके से।

पृष्ठ १४—लानत-मलानत = धिक्कार। मुहावरा—अग्नि पर तेल पड़ना = क्रोध को और भड़काना।

पृष्ठ १५—हृदय कूदना = प्रसन्न होना। स्याह = काला।

पृष्ठ १६—विनीत = नम्र। इहलोक = यह संसार।

पृष्ठ १७—प्राण पखेरू उड़ना = मृत्यु हो जाना। अमूलक = मिथ्या।

पृष्ठ १८—पाश = फन्दा। आत्मीयता = अपनापन, निजत्व।

उसने कहा था

पृष्ठ २१—समष्टि = समूह।

पृष्ठ २३—ग़नीम = शत्रु। गैबी = दैवी। जलजला = भूकम्प।

पृष्ठ २४—विदूषक = मसखरा ।

पृष्ठ २५—त्योरी चढ़ाना = क्रोधित होना ।

पृष्ठ ३०—दाढ़ी मूँड़ना = ठगना ।

पृष्ठ ३१—खेत रहना = मृत्यु ।

पृष्ठ ३२—क्षयी = नष्ट होने वाला ।

पृष्ठ ३३—कमरबन्द = पेटी ।

पृष्ठ ३४—लाम = चढ़ाई (आक्रमण) ।

पृष्ठ ३५—ओवरी = आनन्द का घर । हाड़ = आषाढ़ का महीना ।

दुस्साहस

पृष्ठ ३९—मद्यजनित = मद्य से उत्पन्न । मुवक्किल = वकील जिसकी पैरवी करता है । विसर्जित = विसर्जन किया हुआ । अविरल = जो विरल न हो (घना) ।

पृष्ठ ४०—नाकाबन्दी = रोक लगाना ।

पृष्ठ ४१—बदअमली = अराजकता । मुजतहिद=धर्मोपदेशक (इमाम)।

पृष्ठ ४३—लतिहर = लात खाने वाला ।

पृष्ठ ४४—कमर बाँध लेना = तैयार हो जाना । अकबाल = तेज, प्रताप । तोबा = प्रायश्चित ।

पृष्ठ ४५—गावदी = मूर्ख ।

पृष्ठ ४६—बेवफाई = कृतघ्नता ।

पृष्ठ ४७—मद्यातुरता = शराब के लिए बेचैनी । .

पृष्ठ ४८—अवहेलना = उपेक्षा । निषिद्ध = मनाही । सरूर = नशा ।

पान वाली

पृष्ठ ५०—आच्छादित = ढकी हुई । जाँफिशानी = घोर परिश्रम, जी तोड़कर मेहनत करना ।

पृष्ठ ५१—आरोहियों = चढ़ाई करने वाले । इनायत = कृपा ।

पृष्ठ ५२—हिना = मेंहदी । कारचोबी = सोना चाँदी का काम किया हुआ ।

पृष्ठ ५४—दस्तबस्ता = करबद्ध । अतर्क्य = जो तर्क के योग्य न हो ।

पृष्ठ ५६—तपाक = शान ।

पृष्ठ ५८—अनंगदेव = कामदेव ।

पृष्ठ ५६—शराबोर = डूबा हुआ ।

पृष्ठ ६०—तखलिया = एकान्त ।

दो बाँके

पृष्ठ ६४—सौगात = भेंट । नफासत = सुकुमारता ।

पृष्ठ ६५—आमादा = तैयार । शोहदे = गुण्डे ।

पृष्ठ ६६—बेजा = अनुपयुक्त । वसीका = बख्शीश, सरकारी दर्शनी हुंडी ।

पृष्ठ ६७—सरगना = नेता ।

पृष्ठ ६८—रुखसत = विदा ।

पृष्ठ ६८—कहर = बिजली ।

इक्के वाला

पृष्ठ ७६—तारतम्य = (तरतमयोर्भावः तारतम्यम्) ।

पृष्ठ ८३—स्तब्ध = शान्त । काँटों में घसीटना = कष्टों में डालना ।

हार की जीत

पृष्ठ ८७—हृदय पर साँप लोटना = ईर्ष्या करना ।

मधुरिमा

पृष्ठ ६२—आवाहन = बुलाना ।

पृष्ठ ६३—स्पन्दित = स्पन्दन किया हुआ, हिलना-डुलना ।

पृष्ठ ६४—वल्लरियों = लताओं । निर्निमेष = बिना पलक झपके ।

पृष्ठ ६६—झंझावात = आंधी ।

पृष्ठ ६७—अल्हड़ = मस्त, बेपरवाह ।

पृष्ठ ६८—सर खुजलाना = सोच विचार करना ।

पृष्ठ १०३—नि:शब्द = शब्दरहित । उत्कट = विकट । उद्भ्रान्त = पागल ।

अकबरी लोटा

पृष्ठ १०८—चारों खाने चित्त होना = हार जाना ।

पृष्ठ ११०—काटो तो बदन में खून नहीं = अत्यधिक भयभीत हो जाना ।

पृष्ठ १११—सांगोपांग = सम्पूर्ण ।

पृष्ठ ११३—वजू = नमाज से पूर्व हाथ मुँह धोना ।

शरणागत

पृष्ठ ११८—व्यंजक = प्रकट करने वाली ।

पृष्ठ १२६—गाँठ बाँध लेना = मन में धारण कर लेना ।

सूखी लकड़ी

पृष्ठ १२७—उद्वेलन = व्याकुलता ।

पृष्ठ १२८—मृगाक्षी = मृग के समान आँख वाली । यष्टि = लकड़ी । जल-प्लावन = जल में डूबना (भयंकर बाढ़) ।

पृष्ठ १२९—हृत्तल = अन्तस्तल ।

पृष्ठ १३०—आन्दोलित = हिलना ।

पृष्ठ १३१—स्वप्नाविष्ट = स्वप्न से घिरा हुआ ।

मौसी

पृष्ठ १३७—बदस्तूर = नियमानुसार ।

पृष्ठ १३७—पगार = मजदूरी ।

पृष्ठ १३९—संतुलन = Balance. (   )

पृष्ठ १४०—भेजा = मस्तिष्क ।

पृष्ठ १४१—सबील = (वसीला) तैयारी ।

पृष्ठ १४९—ताना-तिश्ना = उलाहना ।

पृष्ठ १५०—आवभगत = स्वागत ।

पृष्ठ १५१—अभिभूत = उत्पन्न होना ।

एकाकी तारा

पृष्ठ १५६—वारिदमाला = मेघों की माला । प्रतीची = पश्चिम दिशा ।

पृष्ठ १६०—प्रदोष = प्रातः काल ।

पृष्ठ १६२—स्निग्धता = चिकनाई ।

पृष्ठ १६३—स्तिमित = आश्चर्य चकित । प्रोज्ज्वल = चमकीला ।

पृष्ठ १६५—उद्भ्रान्त = भ्रान्ति में पड़ा हुआ, वहमी ।

पृष्ठ १६६—उत्तप्त = तपा हुआ ।

पृष्ठ १६८—अवसान = समाप्ति ।

जाह्नवी

पृष्ठ १७२—थिरकना = नाचना ।

पृष्ठ १७८—आशनाई = मित्रता ।

पृष्ठ १७९—विनयावनत = नम्रता से झुका हुआ ।

कहानी समीक्षा

अनाथ बालिका

प्रस्तुत कहानी—'अनाथ बालिका' पं० ज्वालादत्त शर्मा की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में से है। इसमें डाक्टर राजनाथ जैसे आदर्शपात्र का निर्माण ही सबसे महत्त्वपूर्ण कला है जिसके दयापूर्ण एवं परोपकारी व्यवहार से एक नष्ट प्राय वंशबेल पुनः लहलहा उठती है। साथ ही इस कहानी द्वारा लेखक ने धन-सम्पन्न व्यक्तियों से अनाथ बच्चों को अपनाने की अपील की है। कहानी में उपयोगिता का तत्त्व पर्याप्त अंश में विद्यमान है। कहानी-कला की दृष्टि से यह उत्कृष्ट कोटि की रचना नहीं है। इसमें चरमस्थिति उत्पन्न करने के लिए आकस्मिक संयोग का आश्रय लिया गया है जो कि यथार्थवादी कला की दृष्टि से कलात्मक अपरिपक्वता का ही द्योतन करता है। भाषा सरल एवं उपयुक्त है।

उसने कहा था

गुलेरी जी की यह कहानी कहानी-कला के सभी अंगों की दृष्टि से उत्कृष्ट बन पाई है। कहानी का ढाँचा तीन भागों में बँटा हुआ है। पहले भाग में अमृतसर के बाजार में एक बालक एवं बालिका का मिलन दिखाई पड़ता है। दूसरा भाग फ्रांस के युद्ध के लिए गये हुए सिक्ख राइफल्स का है, जहाँ लहनासिंह अपनी बुद्धिमानी एवं चतुराई से सूबेदार को बचाता है। वहाँ उनके पुत्र वजीरासिंह की तो वह अपने प्राणों से अधिक रक्षा करता है। सूबेदार और बोधासिंह को सुरक्षित स्थान पर पहुँचा कर लहनासिंह मृत्यु के कगारे पर खड़ा अपने समग्र जीवन की संस्मृतियों को बटोरता है। (Flash Back)

स्मृति-पद्धति में यह तीसरा भाग कथा के दो भागों में एक सम्बन्ध जोड़ देता है। लहनासिंह अमृतसर के बाजार का धनी लड़का है और सूबेदार उसी लड़की का जो अब सूबेदारिनी बन गई है, पति है।

इस कहानी में अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण दर्शाया गया है। रास्ते में एक लड़के का एक लड़की से कुड़माई (सगाई) की बात सुनकर मार्ग में लड़ते-भिड़ते, टकराते घर पहुँचना किशोर अवस्था के मन का कितना सटीक चित्रण है।

वर्णनात्मक शैली की दृष्टि से अमृतसर के बाजार का चित्रण जिसमें बाजार की चहल-पहल तथा ताँगे-इक्के का शोर है, सजीव हो उठता है।

चित्रण की दृष्टि से खंदक में बैठे सिपाहियों का जीवन साकार हो उठता है। साथ ही भेष बदलकर आये हुए जर्मन के साथ लहना-सिंह सारी घटना अपने में अद्भुत रोचकता लिए है।

(Flash Back) स्मृति पद्धति का कितना मनोहर प्रयोग किया गया है, जहाँ वह समय के दो छोरों के बीच इन्द्रधनुष का सौन्दर्य मूर्तिमान कर देता है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से लहनासिंह का चरित्र कलाकार के दो तीन शब्दों से ऐसे उभरकर आ जाता है जैसे किसी कुशल चित्रकार के ब्रुश की दो तीन ही गति-विधियों से सम्पूर्ण चित्र उभर आता है।

इस कहानी की भाषा सरल, स्वाभाविक एवं रमणीय है। शब्दों के सभी रूपों तत्सम, तद्भव, देशज का उचित प्रयोग मिलता है। सबसे बड़ी बात यह है कि कहानी का कौतूहल लहनासिंह की अन्तिम साँसों तक बना रहता है।

दुस्साहस

दुस्साहस कहानी मद्यनिषेध आन्दोलन के आधार पर लिखी गई है। प्रेमचन्द गांधी जी से बहुत अंश तक प्रभावित थे तथा उनके

आन्दोलन में सहयोग देना वह अपनी साहित्य-रचना का एक कर्तव्य समझते थे। हृदय-परिष्कृति के सिद्धान्त में उनकी आस्था थी। तब हृदय की कुछ वृत्तियों को बदल देना क्या बड़ी बात है। यदि पुराने पिय्यक्कड़ शराब पीना छोड़ देते हैं तो क्या बड़ी बात है। और दूसरा तथ्य है कि किसी की भी अन्तरात्मा पूर्णतया भर नहीं जाती। आखिर मुन्शी जी को भी जनभावना के सामने झुकना ही पड़ता है। वह अपनी अन्तरात्मा की फटकार सहन नहीं कर पाते और शराब की बोतल फोड़ देते हैं। यह एक आदर्शवादी कहानी है जो ध्येय सामने रखकर ही लिखी गई है। यथार्थवादी कला की दृष्टि से बहुत प्रौढ़ रचना नहीं है। प्रेमचन्द जी की अन्य कहानियाँ इस दृष्टि से बहुत ऊँची हैं।

पान वाली

यह कहानी नबाब वाजिदअलीशाह के ऐश्वर्य एवं विलासमय जीवन की एक झाँकी प्रस्तुत करती है। किस प्रकार वाजिदअलीशाह राज्य की सब देख-भाल छोड़कर अपने ही विनोद विलास में तल्लीन रहते थे। कितनी ही निरीह रमणियाँ उनकी वासना की शिकार बन गईं। लेकिन इस उन्मत्त एवं निर्बाध विलास का परिणाम वही होता है जो कि वाजिदअलीशाह का हुआ। वह सारा राग-रंग उजड़ गया। जो पान वाली रूपा पहले उसकी वासना की तृप्ति के लिए सामग्री जुटाया करती थी वही उनके शत्रु को भी ले आती है। इसीलिए वाजिदअली कह उठते हैं—नमक हराम है।

कहानी चाहे अपना कोई स्पष्ट प्रभाव पाठक के मन पर नहीं छोड़ती, हाँ, कुछ देर के लिए पाठक अपने को भूल अवश्य जाता है। राग-रंग में डूबे नबाब का चित्र बहुत सजीव बन पड़ा है।

दो बाँके

लखनऊ के कुछ खास किस्म के नौजवान पर जिन्हें शोहदों का नाम दिया जाता है, यह एक बहुत ही सुन्दर फब्ती कसी गई है। इस कहानी में उनकी जवाँमर्दी पर, उनकी शेखी पर बहुत ही तीखा व्यंग्य

किया गया है । जब एक तगड़ा सा देहाती मुस्कराता हुआ कह उठता है 'मुल्ला स्वांग खूब भर्यो,' किसी को उस अकेले व्यक्ति से उलझने का दम नहीं । जो लड़ाई का इतना स्वांग भर रहे हैं उनमें शक्ति का एक अंश भी नहीं । लेखक ने ठीक ही लिखा है कि इस जनाना शहर में ही ये शोहदे हुल्लड़ मचाते हैं । दो बाँकों के युद्ध का बहुत ही सुन्दर चित्र खींचा है । कहानी में अन्त तक रोचकता बनी रहती है । शैली बहुत ही आकर्षक एवं व्यंग्य-पूर्ण है ।

इक्के वाला

कौशिक जी इस कहानी में बहुत ही सरल ढङ्ग से एक आदर्शमय युवक की कथा कहते हैं, जिसकी माता उसे रामायण पढ़कर सुनाया करती थी और यह समझाया करती थी—बेटा पाप और बेईमानी से सदा बचना ! इससे तुझे कभी दुख न होगा । कौशिक जी ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि व्यक्ति कितने भी जघन्य और निम्न स्तर वाले व्यापार को करता है, यदि वह इन दो गुणों को अपने में धारण करता है तो वह किसी भी साधु महात्मा से कम पवित्र नहीं । युवक की कहानी अपने में एक आदर्शमय चित्र उपस्थित करती है । विभिन्न प्रयोजनों एवं उत्तेजनाओं में से भी वह अपना मार्ग बनाता चला जाता है और आनन्दमय जीवन बिता रहा है ।

हार की जीत

हिन्दी-साहित्य की यदि उत्कृष्ट कहानियाँ चुनी जायें तो उनमें से 'हार की जीत' एक है । इसमें लेखक की भावाभिव्यक्ति इतनी सुन्दर एव सशक्त रूप में हुई है कि पाठक का मन सत्य का साक्षात्कार होने पर भाव-विभोर हो उठता है । जिस स्थान पर खड्ग-सिंह एवं बाबा भारती के आँसू गिरते हैं वहाँ पाठक भी नतमस्तक हो जाता है । प्राणों से प्रिय अपने घोड़े सुलतान को खोकर बाबा भारती के मुख से जब खड्गसिंह के लिए ये शब्द निकलते हैं—"लोगों को यदि

इस घटना का पता लग गया तो वे किसी गरीब पर विश्वास न करेंगे" वे अनन्त समय तक पाठक के मन में ध्वनित होते रहेंगे। सरल, स्वच्छ शैली में इतनी आनन्दपूर्ण कहानी हिन्दी-साहित्य में कम ही लिखी गई हैं।

मधुरिमा

कमलादेवी चौधरी की यह एक चरित्र-प्रधान कहानी है। कहानी की मधुरिमा को यदि फूलों की रानी कहा जाय तो अपवाद न होगा। शैशव से ही उसका कोमल हृदय कोमलता से ही जुड़ा रहता है। उसको औपचारिक एवं सामाजिक ढंग का पढ़ना गुनना नीरस, कर्कश एवं अस्वाभाविक जान पड़ता है और एक दिन वह कुमार की मीठी वंशी पर मुग्ध हो जाती है। वह सब कुछ सीख जाती है लेकिन ग से गदहे के रूप में नहीं ग से गेंदे के रूप में च से चमेली के रूप में। कहानी लेखिका यहाँ पर जिस मनोवैज्ञानिक सत्य का उद्घाटन करना चाहती है वह है प्रकृति के अनुरूप शिक्षण-पद्धति की उपयोगिता। कुमार से विरह हो जाता है और अब वे सामाजिक बन्धन उसकी स्वतन्त्र आत्मा को जकड़े रहते हैं। उसका अन्तःसंघर्ष उद्दीप्त हो उठता है। कहानी लेखिका ने यहाँ पर चरित्र का बहुत सुन्दर विकास दिखाया है। लेकिन उसके उपरान्त उस रहस्य को जानने की प्रक्रिया में मधुरिमा की मृत्यु से कहानी में अस्वाभाविक मोड़ आ गया है जिसका उद्देश्य भी अस्पष्ट रह गया है। कुमार के फूल बिखर जाने का कोई जवाब नहीं मिलता। कहानी की शैली सरस एवं रमणीय है। प्रकृति-प्रेम की ओर पाठक का मन सहज आकर्षण से भर जाता है।

अकबरी लोटा

यह अन्नपूर्णानन्द जी की एक हास्यपूर्ण कहानी है। कहानी में व्यंग्य भी हास्य में ऐसा घुल-मिल गया है जैसे दूध-शक्कर का मेल होता है। लाला झाऊमल परेशान हैं कि अपनी पत्नी को पैसे कैसे दूँ! अन्यथा सारी शेखी मिट जायगी। उनके जिगरी दोस्त

विलवासी जी हैं। आखिर एक घटना हो गई। पानी पीने वाला सड़ा बेढंगा और मनहूस लोटा एक अंग्रेज साहब के पाँव पर गिर पड़ता है। बस झाऊमल पर तो मानो विपत्ति टूट पड़ी। लेकिन विलवासी जी अपनी तीक्ष्ण दृष्टि से उस मनहूस घटना से भी फायदा उठा लेते हैं। मनहूस लोटा अकबरी लोटा बन जाता है और पाँच कंकड़ियों के दाम बिकने वाला लोटा ५०० रुपये में अंग्रेज साहब लेकर खुश हो जाते हैं और विलवासी जी २५० रुपये का चोरी का माल अपनी पत्नी के सन्दूक में रखकर सुख से सोते हैं।

कहानी में कुछ पंक्तियाँ ऐसी हैं कि पाठक हँसे बिना नहीं रहता। जैसे मेरे पति को पत्नी की पत्नी समझना चाहिये। या जहाँगीरी अंडे वाली बात और साथ ही व्यंग्य—हिन्दुस्तानी लोटा भी वहीं गिरा जहाँ हिन्दुस्तानी गिरते हैं। लेकिन कमाल है यहाँ लोटा चोट कर देता है। कहानी सरस शैली में लिखी गई है।

शरणागत

इस कहानी में एक दस्यु बुन्देला के चरित्र के दोष और गुण का विश्लेषण किया गया है। उस ठाकुर के द्वार पर एक दिन रज्जब कसाई अपनी रुग्णा स्त्री के साथ शरण माँगने पहुँचा। ठाकुर ने उसे अभयदान तो दे दिया पर थोड़ी ही देर के बाद उसकी अध्यक्षता में डाका डालने वाला दस्यु-समाज वहाँ आ पहुँचा। रज्जब को एक बैलगाड़ी में अपने निवास स्थान ललितपुर की यात्रा करनी पड़ी। दूसरे दिन जब रज्जब गाँव से दूर एक जंगल में पहुँचा और वहाँ रात्रि हो गई तो ठाकुर के साथ दस्युगण भी डाका डालने के लिए उस जंगल में पहुँच गए।

रज्जब के पास एक सहस्र रुपये की थैली थी। दस्यु दल में से एक व्यक्ति ने लाठी तानी और वह क्षण दूर नहीं था जब कि लाठी से रज्जब का खोपरा चकनाचूर हो जाता। किन्तु ज्यों ही दस्युराज ठाकुर को यह ज्ञात हुआ कि यह पथिक वही रज्जब कसाई है जिसको

उसने अभयदान दिया था त्यों ही उसने अपने साथियों को प्रहार करने से रोक दिया। इस प्रकार रज्जब की रक्षा हो गई।

इस कहानी में दस्यु बुंदेला ठाकुरों की शरणागत रक्षा की प्रवृत्ति दिखाई गयी है। डाकुओं की क्रूरता, रज्जब की अधीरता, गाड़ीवान की गड़गड़ाहट, कसाई की अकड़ का जीवन्त चित्र खींचने का इसमें सफल प्रयास किया गया है।

सूखी लकड़ी

यह एक भाव-प्रधान कहानी है। भारतीय समाज में वैसे तो विधवा का जीवन करुणा की प्रत्यक्षमूर्ति ही होता है लेकिन यहाँ स्वेच्छा से एक विधवा लड़की है जो वास्तव में सूखी लकड़ी ही है। कारण यह है कि उसके जीवन में से हास, उल्लास, प्रणय, क्रीड़ा सब कुछ लुप्त हो चुका है। उसका पेशा भी लकड़ी बेचना है। राधे को लकड़ी चाहिए। वह लकड़ी ले लेता है। लेकिन आखिर राधे मानव है। वह लड़की के बारे में, उसके जीवन के बारे में सोचता है हो। लड़की का बाप भी मर जाता है और वह स्वयं भी कुछ वर्ष बाद एक कुन्दे की महमान होती है। लकड़ी चिर जायेगी।

यह कहानी प्रतीकात्मक शैली में लिखी गई है। संस्कृत की तत्सम शब्दावली की तरफ झुकाव अधिक है। कहीं-कहीं प्रकृति के विभिन्न दृश्यों को उपमान रूप में ग्रहण कर मानसिक हलचलों को समझाने का प्रयत्न किया गया है। कहानी का शीर्षक ही इस तथ्य का द्योतक है कि लेखक का उद्देश्य है प्रतीकात्मक शैली में कहानी-सृजन। कहानी की नायिका एक बालिका है जिसका वास्तविक नाम अज्ञात है, सूखी लकड़ी उसका उपनाम है। वह विधवा है और उसके जीवन का रस युवावस्था में ही उस सूखी लकड़ी के समान नीरस बन गया है जो सरस वृक्ष से विछिन्न होने के करण सूखती जा रही है। बालिका का व्यवसाय भी लकड़ी का क्रय-विक्रय है। उसका पिता वृद्ध एवं रुग्ण है। परिवार का संभरण उसी पर निर्भर है।

उसके जीवन की रस-धारा सूखी लकड़ी के समान सूख गई है पर वह अपना अवशिष्ट जीवन लकड़ी के उस कुन्दे के समान बिता रही है जिसके गिर जाने की बारी अब समीप आ रही है।

मौसी

मौसी एक चरित्र-प्रधान कहानी है। मौसी वास्तव में नौकरानी है लेकिन अब वृद्धा होने के साथ-साथ उसके काम करने में आलस्य एवं ढीलापन भी आ गया है। इसकी स्मरणशक्ति भी कम हो गई है। अतः कई बार परिवार के लोगों को झल्लाहट होती है, गुस्सा आता है। वे उसे डाँटते भी हैं। लेकिन मौसी मानो एक आदर्श नौकर की भाँति सब कुछ सुन लेती है। जवाब नहीं देती। ईमानदार है, सच्ची है, और साथ ही सहनशीला भी। वह अपना कर्तव्य खूब समझती है। परिवार में अपने प्रेम एवं वात्सल्य की महत्ता के कारण तथा परिवार के सदस्यों को पुत्रवत् समझने के कारण वह उनके आदर एवं सम्मान की भी पात्र बन गई है।

इस कहानी की शैली मनोरम और चरित्र-उद्घाटन के सर्वथा अनुकूल है, यह आत्मकथा के लिए उपयुक्त है ही साथ ही बोल-चाल की भाषा जन सामान्य प्रचलित मुहावरों के कारण इसकी रोचकता द्विगुणित हो गई है।

बड़े-बड़े नगरों के समृद्ध परिवारों में नौकर की एक समस्या उठ खड़ी हुई है। यदि कोई नौकर परिश्रमी है तो ईमानदार नहीं। यदि ईमानदार है तो परिश्रमी नहीं। इस कहानी में मौसी नामक नौकरानी परिश्रमी नहीं किन्तु ईमानदार है। इसी कारण उसकी त्रुटियों से परिचित होने पर भी गृहस्वामी उसके साथ समझौता करता चलता है।

एकाकी तारा

यह एक विचार-प्रधान कहानी है। इसमें जीवन पर एक गवेषणा-पूर्ण दृष्टि डालने का प्रयत्न मिलता है। लूनी बचपन में ही अपने माँ

बाप को खो बैठी। उसका एक भाई अवश्य था जिसके साथ रहकर वह बड़ी हुई। लेकिन भीख माँगने पर भी उनकी आर्थिक स्थिति कभी सँभल नहीं पाई। भाई अध्ययन करने लगा और एक दिन उसके मन में उन आर्थिक शृंखलाओं को तोड़ने का निश्चय हो आया। बहिन को अकेली छोड़ कर वह बाहर की तरफ आ गया। पीछे वह लूनी अबला अशिक्षित रहकर अपने जीवन का भार उठाती रही। शरीर को पालने के लिए उसे अपनी आत्मा का हनन करना पड़ा उसने शरीर को एक सम्पन्न गूजर के हाथ सौंप दिया जिससे एक लड़की उत्पन्न हुई। उधर भाई लौटा लेकिन धन के पाशविक नुकीले पंजों में दबोची गई अपनी बहिन की आत्मा पर केवल दो आँसू ही टपका पाया। लेकिन फिर जल उठा। उसका हृदय विद्रोह कर उठा, समाज की आर्थिक व्यवस्था के प्रति—समाज के प्रति। लेकिन राज्य के विद्रोह का परिणाम था—प्राण-दण्ड। लूनी फाँसी के दिन उसी चट्टान पर बैठी अपने विगत जीवन की घटनाओं को दोहरा रही है। कुछ समझ पाती है, कुछ अब भी समझ नहीं पा रही।

एकाकी तारे में उसे अपने भाई का व्यक्तित्व ही दीख पड़ता है—अकेला अनेक तारों से संघर्ष करता हुआ। उसके भाई का प्राणान्त हो गया। यह दुखान्त कहानी सामाजिक विषमताओं पर व्यंग्य करती है।

जाह्नवी

इस कहानी के भाव पक्ष को प्रकृति के उपादानों से उभारने का प्रयत्न किया गया है। इसकी भाषा सूक्ष्म विचारों और अन्तर्द्वन्द्वों के घातप्रतिघातों को व्यक्त करने में समर्थ है।

यह कहानी एक सुशिक्षिता युवती की है जो अपने भावी पति को चुनने में आत्म निर्णय को प्रश्रय देना चाहती है लेकिन समाज में युवती का इस प्रकार अपने विचार प्रकट करना लज्जा खो देना ही समझा जाता है। लेखक ने यहाँ यही दिखाने का प्रयास किया है कि

किस प्रकार जाह्नवी जब अपने भावी पति ब्रजनन्दन को यह जता देती है कि बरबस आप चाहें तो मैं आपकी हो सकती हूँ लेकिन मेरा हृदय आपसे विवाह करना नहीं चाहता तो लोग उसकी विचारधारा को विभिन्न लांछनों से दूषित कर अनैतिकता से बाँध देना चाहते हैं। विवाह-सम्बन्ध का वास्तविक अर्थ क्या है ? इसी पर समाज पर्दा डाले हुए है। इस कहानी में बहुत सूक्ष्म ढंग से समाज के परिणय सम्बन्धों में पति-पत्नी की स्वतन्त्र इच्छा पर बरबस थोपे गए नियन्त्रण का विरोध किया गया है।

इस कहानी की भाषा सरल है। आधुनिक समाज के बदलते हुए स्वरूप को देखकर विवाह की प्राचीन परिपाटी की त्रुटियों को दिखाया गया है और साथ ही आधुनिक परिपाटी के कारण होने वाले दोषों पर भी प्रकाश डाला गया है।